विश्वविद्यालय अनुदान आयोग
University Grants Commission
Quality higher education for all

प्राचीन भारतीय राजनय तथा प्रशासन

प्रो. नागेश दुबे
विभागाध्यक्ष
प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग
डॉ0 हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म0प्र0)

एव

प्रो. आलोक श्रोत्रिय
अधिष्ठाता एवं पूर्व विभागाध्यक्ष
प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग
इंदिरा गाँधी राष्ट्रीय जनजातीय विश्वविद्यालय, अमरकंटक (म0प्र0)

प्राचीन भारतीय राजनय तथा प्रशासन

प्रो. नागेश दुबे

foHkkxk/;{k

प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग

डॉ0 हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म0प्र0)

एवं

प्रो. आलोक श्रोत्रिय

vf/k"Bkrk ,oa izo{kk foHkkxk/;{k

प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग

इंदिरा गाँधी राष्ट्रीय जनजातीय विश्वविद्यालय, अमरकंटक (म0प्र0)

Hkfedk

प्राचीन भारतीय राजनीय तथा प्रशासन भारतीय, इतिहास का गौरवशाली पक्ष रहा है। भारत में प्रारंभ से ही राजा निरंकुश नहीं रहा उस पर कल्याणकारी राज्य की अवधारणा के अंतर्गत अनेक प्रतिबंध लगाये गये थे। प्राचीन भारत में जन कल्याण को सर्वोच्च स्थान दिया गया था। कल्याणकारी राज्य की अवधारणा में ही मानव कल्याण की सम्भावनाएं निहित थीं। प्राचीन भारतीय राजनय तथा प्रशासन के अध्ययन के लिए वैदिक साहित्य सबसे प्राचीन ग्रन्थ माना जा सकता है। कौटिल्य का अर्थशास्त्र मूलरूप से राजनय तथा प्रशासन से संबंधित ग्रन्थ है। धर्मशास्त्रों तथा धर्मसूत्रों से राजनय तथा प्रशासन की जानकारी मिलती है। स्मृतियां, पुराण, रामायण, महाभारत, बौद्धग्रंथ, जैनग्रंथ, काव्य शास्त्र के ग्रन्थ, नाटक एवं ऐतिहासिक ग्रन्थों से प्राचीन भारतीय राजनय तथा प्रशासन की महत्वपूर्ण जानकारियाँ मिलती हैं। प्राचीन भारतीय सिक्कों तथा अभिलखों से भी हमें प्राचीन भारतीय राजनय तथा प्रशासन की प्रमाणिक जानकारी मिलती है। प्रस्तुत ग्रन्थ में प्राचीन भारत के राजनय तथा प्रशासन से संबंधित विविध पक्षी का सारगर्मित तथा तथ्यात्मक विवेचन निम्न अध्यायों में प्रस्तुत किया गया। प्रथम अध्याय में राज्य की उत्पति, राज्य के प्रकार अथवा स्वरूप तथा राज्य के विभिन्न कार्यों की विवेचना की गयी है। द्वितीय अध्याय में राजपद की उत्पत्ति, राजा का देवत्व, राजा की शक्तियां और कायों के साथ ही राजा की निरंकुशता पर लगाये जाने वाले विभिन्न प्रतिबंधों को वर्णित किया गया है। इसी अध्याय में मंत्रिपरिषद् के संगठन, मंत्रिपरिषद् के कार्यों तथा अधिकारों के अतिरिक्त सप्तांग सिद्धांत का विवेचन किया गया है। तृतीय अध्याय में गणराज्यों का विकास, उनके संगठन, शासन पद्धति तथा उनके गुण–दोषों के विवेचित करते हुए गणराज्यों के महत्व को स्पष्ट किया गया है। चतुर्थ अध्याय में अंतर्राज्यीय सम्बन्धों का प्राचीन भारत में विकास, अंतर्राज्यीय सम्बन्धों की दृष्टि से राज्यों के प्रकार तथा उनकी स्थिति के विवेचन के साथ ही मण्डल सिद्धांत, षाड्गुण्य सिद्धांत तथा प्राचीन भारत में दूत व्यवस्था का विवेचन किया गया है। पंचम अध्याय में प्राचीन भारत के विविध कालों में अस्तित्व में रही शासन व्यवस्थाओं को विवेचित किया गया है।

इसके अंतर्गत मौर्य, गुप्त, हर्ष, चोल तथा राष्ट्रकूट कालीन शासन व्यवस्थाओं के वर्णित किया गया है। ग्रन्थ के अंत में संदर्भ ग्रंथ सूची दी गई है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में प्राचीन भारतीय राजनय तथा प्रशासन का विवेचन सारगर्भित रूप से किया गया है। महत्वपूर्ण तथ्यों के संदर्भ प्रत्येक अध्याय के अंत में दिये गये हैं। यह ग्रंथ विद्यार्थियों, शोधार्थियों तथा सामान्यजन के लिए महत्वपूर्ण सिद्ध होगा।

इस ग्रंथ के लेखन में डॉ. विवेकदत्त झा (पूर्व टैगोर प्रोफेसर एवं अध्यक्ष प्राचीन भारतीय, इतिहास, संस्कृति तथा पुरातत्त्व विभाग, डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय सागर (म.प्र.)। डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय सागर (म.प्र.) की कुलपति प्रो. नीलिमा गुप्ता को उनके द्वारा प्रदान किये गये प्रोत्साहन एवं मार्गदर्षन के लिए हम उनके प्रति विशेष रूप से आभारी हैं। विभाग के षिक्षकगण डॉ. सुरेन्द्र कुमार यादव, डॉ. षिवकुमार पारोचे, डॉ. मषकूर अहमद कादरी एवं कार्यालय प्रभारी मो. आदिल खान एवं विभाग के अन्य सदस्यों के प्रति आभार व्यक्त करते हैं। जवाहरलाल नेहरू केन्द्रीय ग्रन्थालय डॉ. हरीसिंह गौर विष्वविद्यालय, सागर के सहायक पुस्तकालयाध्यक्ष डॉ. संजीव सराफ एवं उनके सहयोगियों के प्रति भी उनके द्वारा पुस्तकालय से सम्बन्धित सामग्री उपलब्ध कराने के लिए आभार व्यक्त करते हैं। इसके अतिरिक्त जिन विद्वतजनों के ग्रन्थों की सहायता इस ग्रन्थ की रचना में ली गयी है तथा जिन्हें संदर्भित किया गया है। उनके प्रति भी हम आभार व्यक्त करते हैं। ग्रन्थ की रचना के दौरान अपने इष्ट मित्रों तथा परिवार के सदस्यों के प्रति हम आभार व्यक्त करते हैं।

ik- ukxs'k nqcs ,oa ik- vkyksd Jkf=;

vuØef.kdk

Øekd	v/;k;k dk fooj.k	i"B l[;k
1.	jkT; % राज्य की उत्पत्ति राज्य के प्रकार राज्य के कार्य	6—25
2.	jkt in] ef=ifj"kn rFkk lIrkx fl)kr राजपद की उत्पत्ति राजा का देवत्व राजा की शक्तियाँ और कार्य राजा की निरंकुषता पर प्रतिबंध	26—60
	ef=ifj"kn % मंत्रिपरिषद का संगठन मंत्रिपरिषद के कार्य एवं अधिकार	
	lIrkx fl)kr	
3.	x.kjkT; गणराज्यों का विकास गण का अर्थ तथा स्वरूप गणराज्यों के विषय में ज्ञान प्राप्त करने के साधन गणराज्यों की विषेषताएँ गणराज्यों का संविधान अथवा शासन संगठन गणराज्यों में व्यवस्थापिका एवं सभाओं की कार्यप्रणाली गणराज्यों के गुण—दोष गणराज्यों का महत्व	61—81

4.	vUrjkT;h; lEcU/k % e.My fl)kar] "kkMxq.; fl)kar rFkk nwr0;oLFkk प्राचीन भारत में अंतर्राज्यीय सम्बन्धों का विकास राज्यों के प्रकार तथा उनकी स्थिति	82—106
	e.My fl)kar मण्डल की मूल प्रवृत्तियां मण्डल में प्रभाव बढ़ाने के उपाय	
	"kkMxq.; fl)kar nwr 0;oLFkk	
5.	izkphu Hkkjr dh 'kklu 0;oLFkk,¡ मौर्यकालीन शासन व्यवस्था गुप्तकालीन शासन व्यवस्था हर्षकालीन शासन व्यवस्था चोलकालीन शासन व्यवस्था राष्ट्रकूट कालीन शासन व्यवस्था	107—169
	lUnHkZ xzUFk lwph	170—176

v/;k;&1

jkT; dh mRifÙk] izdkj ¼Lo:i½ ,oa dk;l jkT; dh mRifÙk

हिन्दू साहित्य के अन्तर्गत, अनेक प्राचीन ग्रंथ राज्य की उत्पति के संबंध में विस्तार से प्रकाश डालते हैं। राज्य की उत्पति के विषय में अनेक सिद्धांतों का प्रतिपादन किया गया है। इस विषय में कौटिल्य का ग्रंथ अर्थशास्त्र महत्वपूर्ण प्रतीत होता है। इस ग्रंथ के अन्तर्गत एक ओर तो स्वयं आचार्य कौटिल्य ने अपने मतों का उल्लेख किया है, दूसरी ओर उन्होंने अन्य आचार्यों के मतों का समावेश भी किया है। आचार्य कौटिल्य ने स्वयं यह स्वीकार किया कि 'पृथ्वी की प्राप्ति और उसकी रक्षा के लिए पुरातन आचार्यों ने जितने भी अर्थशास्त्र विषयक ग्रंथों का निर्माण किया उन सबका सार–संकलन प्रस्तुत कर अर्थशास्त्र की रचना की गई है।''[1]

यही बात बौद्ध साहित्य के विषय में कही जा सकती है। जिसमें सैद्धांतिक पक्ष पर पर्याप्त प्रकाश नहीं डाला गया है। इस दृष्टिकोण से यदि देखा जाए तो केवल महाभारत ही एक ऐसा ग्रंथ मिलेगा जो कि राज्यशास्त्र के सैद्धांतिक पक्ष पर पर्याप्त प्रकाश डालता है।

राज्य की उत्पति से सम्बन्धित अनेक प्रकार के सिल्द्रांतों की प्राचीन भारतीय साहित्य में खोजा जा सकता है। राज्य की उत्पत्ति का विवरण हमें सर्वप्रथम ब्राह्मण ग्रंथों में प्राप्त होता है। वैदिक संहिताओं के अंतर्गत राजा को एक देवता के रूप में माना गया है। इसके पश्चात इससे भी अधिक प्रभुसत्ता ब्राह्मण काल में प्रजापति को और पौराणिक काल में विष्णु को प्राप्त हुई।[2] राज्य की उत्पति विषयक महत्वपूर्ण सिद्धांतों का संक्षिप्त विवेचन निम्नलिखित रूप से हैं :–

jkT; dh mRifÙk ds fl)kar

1- nSoh mRifÙk dk fl)kar

इस सिद्धांत के अनुसार राजा की राज्य करने का अधिकार ईश्वर के द्वारा प्रदान किया गया है। इसके अनुसार राजा का जन्म भी, ईश्वर के द्वारा हुआ है। विदेशी जातियों या शासकों ने इस सिद्धांत का अनुचित लाभ उठाया। उन्होंने इसके

अन्तर्गत कहा कि राजा बुरा भी करे तो भी प्रजा को राजा की आज्ञा मानना चाहिए। धार्मिक ग्रंथ राजा के अनेक रूपों का विवेचन करते हैं। इन ग्रंथों के अन्तर्गत यह बतलाया गया है कि राजा के न रहने पर समाज में अव्यवस्था का प्रसार हो जाता है। मनुस्मृति में बताया गया है कि विश्व के कल्याणार्थ ईश्वर ये राजा को जन्म दिया अनेक देवता इन्द्र, वरूण, यम, कुबेर, वायु, सूर्य और अग्नि आदि के अंशों को मिलाकर राजा की उत्पत्ति हुई। इसकी और विशद् व्यवस्था करते हुए कहा गया कि राजा की ओर साधारण व्यक्ति में देख भी नहीं सकता, यदि वह बालक के रूप में हो तब भी उसका आदर ही किया जाना चाहिए। क्योंकि वह एक प्रकार से ईश्वर का ही प्रतीक है।[3]

यद्यपि महाभारत में सामाजिक अनुबंध के सिद्धांत को सबसे स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया गया है। कई स्थलों पर स्पष्ट किया गया है कि राज्य संस्था ईश्वर द्वारा निर्मित थी।[4] महाभारत के शान्ति पर्व में राजा के कर्तव्यों का उल्लेख करते हुए यह बतलाया गया है कि राजा इन्द्र है, राजा यम है, राजा धर्म है, राजा के अनेक रूप हैं। राजा इस पृथ्वी को धारण करता है। राजा इस पृथ्वी का पालन करता है। राजा की केवल ईश्वर से तुलना नहीं की गई है, वरन उसको ईश्वर के समान मान लिया है। महाभारत में राजा को अनेक स्थलों पर 'यम', 'अग्नि', 'वरूण', 'कुबेर' का स्वरूप प्रदान किया गया है। महाभारत के एक प्रसंग में कहा गया है कि ब्रह्मा ने राजा को स्वयं जन्म दिया है।

कौटिल्य ने भी अपने अर्थशास्त्र में राजा को सर्वोपरि बताया है। कौटिल्य के अनुसार राजा से डरना चाहिए, राजा से बड़ा कोई देवता नहीं हैं। राजाग्नि दूर से ही भस्म कर डालती है। कौटिल्य ने राजा के दैवीय स्वरूप का विवेचन क्षुद्धक वर्ग (निम्न वर्ग) के संदर्भ में किया है। कौटिल्य का महान अर्थशास्त्र दैवी सिद्धांत और अनुबंध सिद्धांत को संयुक्त रूप से उल्लेख करता है। अर्थशास्त्र में कहा गया है कि राजा की क्रोधाग्नि से प्रत्येक व्यक्ति को बचना चाहिए।

nोh fl)kr dh vk/kkjHkwr fo'k"krk,¡

1. राजा के उत्पन्न होने का मूल कारण सर्वोपरि ईश्वर की सत्ता ही है। सभा, समिति नामक संस्थाएं अत्याचारी राजा को पदच्युत कर देती थीं।

2. वास्तव में राजा ईश्वर का ही एक मूर्तिमान रूप है। इसी का संकेत मौर्यकाल में राजा के विषय में प्रयुक्त होने वाला शब्द 'देवानामप्रिय" भी कराता है।

3. राजा को ईश्वर ने इसलिए उत्पन्न किया था कि संसार में अराजकता या अव्यवस्था का प्रसार किसी भी प्रकार से न होने पाए।

इस प्रकार दैवी सिद्धांत में राजा को ईश्वर का ही एक रूप मान लिया है।

इस्लाम धर्म में भी बादशाह को खुदा का रूप माना गया है। ईसाई धर्म में राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि माना है। भारतीय राजशास्त्र में दैवी सिद्धांत के अनुसार राजा का विरोध करना एक प्रकार से ईश्वर का विरोध करना है। राजा ईश्वर का प्रतिनिधि है। हिन्दू राज्यशास्त्र में राजा प्रजा पर पुत्रवत स्नेह करके, भरण–पोषण करता है। इसलिए इसको ईश्वर का मूर्तिवान रूप प्रदान किया गया है। उसकी आलोचना करने का अधिकार व अपदस्थ करने का अधिकार प्रजा को था। घोबी द्वारा राम की आलोचना, राजा दशरथ द्वारा राम को युवराज पद देने के लिए समिति द्वारा पुष्टि आदि इसके उदाहरण हैं। डॉ. अल्तेकर आदि कुछ विद्वान वैदिक काल में राजा के दैवत्व की कल्पना का सर्वमान्य होना नहीं स्वीकार करते हैं।[7]

2- ;/æ eyd jkT; mRifr dk fl)kr ;k 'kfä fl)kr

हिन्दु राज्यशास्त्र के अन्तर्गत जहाँ एक ओर राज्य को देवी उत्पत्ति माना गया है, दूसरी ओर उसके उत्पन्न होने में युद्ध को भी एक मूल कारण के रूप में स्वीकार किया गया है। इस सिद्धांत का उल्लेख सबसे पहले हमको ऐतरेय ब्राह्मण के अन्तर्गत प्राप्त होता है। इसकी कथा इस प्रकार है कि प्रारंभ में देवताओं और दैत्यों के मध्य युद्ध होता था। इस युद्ध में देवताओं को दैत्यों ने पराजित कर दिया। पराजित होकर देवता (जाति के लोग) अपनी पराजय के कारण पर विचा करने लगे। इनके विचार में यह बात आयी कि उनको एकता के सूत्र में बांधकर उनका मार्ग–प्रदर्शन करने वाला कोई नेता नहीं है और यही उनकी पराजय का कारण है। इस विचार को लेकर देवताओं ने यह तय किया कि वे लोग भी अपना एक 'राजा'

सर्व सम्मति से बना लें। सभी देवता इस प्रस्ताव पर पूरी तरह राजी हो गए और फिर वह युद्ध में विजयी हुए और दैत्य पराजित हो गए। इस प्रकार ऐतरेय ब्राह्मण में युव्द्र या शक्ति के सिद्धांत का वर्णन किया गया है।[8]

युद्ध का सिद्धांत, राज्य की उत्पत्ति में युद्ध को प्रमुख स्थान देता है।[9] इस सिद्धांत से निम्नलिखित प्रमुख विचारों का स्पष्टीकरण होता हैः–

1. युद्ध की निश्चित आवश्यकताएँ थीं। जिसको पूरा करने के लिए राज्य को उत्पन्न किया।
2. देवताओं ने 'राजा' के होने की अनिवार्यता की, दैत्यों से ग्रहण किया।
3. नृपतंत्र की उत्पति, निर्वाचन के आधार पर हुई थी। इस प्रकार का उल्लेख ऐतरेय ब्राह्मण में मिलता है। स्वयं सभी देवताओं ने मिलकर राजा को चुनने का निश्चिय किया। जो कालान्तर में आकर वंशानुगत हो गया। परमात्मा शरण के अनुसार, प्राचीन भारत में शक्ति सिद्धांत का किसी भी विचारक ने प्रतिपादन नहीं किया है।[10]

3- lkekftd vuqca/k dk fl)kar ;k lkekftd le>kSrs dk fl)kar

सामाजिक अनुबंध का सिद्धांत पारस्पारिक सामाजिक समझौते के आधार पर विकसित हुआ। इस सम्बन्ध में सर्वप्रथम ऐतरेय ब्राह्मण में इस प्रकार का प्रसंग आता है कि प्रजापति के नेतृत्व में सभी देवताओं ने मिलकर इन्द्र की ओर संकेत करके यह कहा कि यह देवताओं में सबसे अधिक शक्तिशाली है, सबसे अधिक पूर्ण और साहसी है। अतरू हमें इनको अपना राजा स्वीकार करना चाहिए इस प्रकार देवताओं ने आपस में मिलकर एक सामूहिक रूप से इन्द्र को अपना राजा स्वीकार किया।[11]

दीर्घनिकाय में इस प्रकार का संकेत आता है कि सर्वप्रथम यह बसुन्धरा धन–धान्य से इतनी पूर्ण थी कि लोग आनंद पूर्वक अपना जीवन व्यतीत करते थे। कुछ समय पश्चात इस आदर्श समाज का पतन होना प्रारंभ हो गया। समाज में राजा के अभाव में अव्यवस्था का फैल जाना स्वाभाविक बात थी। इस अव्यवस्था से ऊब कर सभी लोगों ने मिलकर अपने में से सवांधिक योग्य, बलवान, बुद्धिमान और

सुन्दर व्यक्ति से प्रार्थना की कि वह उनका राजा बन जाए। उसके साथ समझौता किया कि अब से तुम उस व्यक्ति दण्ड दिया करो जो दण्ड देने के योग्य है और उसे पुरस्कृत करो जो पुरस्कृत करने के योग्य हो। इसके बदले में लोगों ने उपज का एक भाग देने का वचन दिया अर्थात इस सामाजिक समझौते की शतों का पालन करने के लिए राजा वेतन प्राप्त करता है। बौद्ध ग्रंथों के अनुसार ''राजा अपनी सत्ता, उन लोगों से प्राप्त करता है, जिन्होंने उसे चुना है।''[12] इस प्रकार चुने गये राजा को 'महासम्मत' नाम दिया गया, क्योंकि वह व्यक्ति सबसे सम्मत लेकर अपने पद पर अधिष्ठित होता है।[13]

जैन ग्रंथों में इस प्रकार वर्णन आता है कि प्रारंभ में पृथ्वी योग रूप में थी। पृथ्वी के निवासी अपनी सभी कामनाओं की प्राप्ति किया करते थे। धीरे–धीरे समय के विपरीत प्रभाव से सभी सुख नष्ट होते गए और समाज में एक अव्यवस्था फैल गई। इस अव्यवस्था से छुटकारा पाने के लिए जैनों के प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव ने एक राजा की नियुक्ति की और उन्होंने ही लोगों के कार्यों का विभाजन किया।[14]

राज्य किस प्रकार उत्पन्न हुआ। इसकी चर्चा कौटिल्य ने अपने ग्रंथ अर्थशास्त्र में नहीं की परन्तु इस ग्रंथ के 8वें प्रकरण में आने वाले 12वें अध्याय में दो जासूसों के मध्य वाद–विवाद होता है। जो इस प्रकार है। ''तालाब के अन्तर्गत निवास करने वाली मछलियों में, जिस प्रकार से बड़ी मछली छोटी मछली को निगल जाती है ठीक उसी प्रकार से समाज में बलवान आदमी निबल को शोषित करते जा रहे हैं। प्रजा इस अन्याय से ऊब गई और उसने एक शक्तिशाली व्यक्ति मनु से कहा कि हम सब कृषि तथा व्यापार का दसवाँ भाग, कर के रूप में देंगे। मनु ने इन करों को स्वीकार करते हुए प्रजा के उत्पीड़नों को समाप्त करने का उत्तरदायित्व धारण किया।''[15] राजा का यह अधिकार इतना व्यापक था कि उसमें निवास करने वाले सन्यासी भी अपना 'धर्म' समझते थे। इसके बदले राजा उनकी रक्षा करता था। जो व्यक्ति राजा का अपमान करता था, उस पर विपत्तियाँ आ जाती थीं। इसी कारण कौटिल्य ने कहा है कि किसी भी प्रकार से राजा का अपमान नहीं करना चाहिए। अगर राजा बालक के रूप में भी है तो साधारण व्यक्ति उसे आँख उठाकर नहीं देख सकता है अर्थात सदैव, राजा का सम्मान करना चाहिए।

महाभारत के अनुसार सामाजिक अनुबंध का सिद्धांत महाभारत के अन्तर्गत शान्तिपर्व के 67वें अध्याय में संकेत मिलता है कि उस समय देश के अन्दर एक प्रकार से अराजकता फैली हुई थी। सर्वत्र जगह अन्याय का बोलबाला हो चला था। इस समय सामाजिक–अराजकता से व्याकुल होकर लोग इस अव्यवस्था से बचने का उपाय सोचने लगे। अन्त में सभी लोग ब्रह्मा के पास गये और कहा कि 'हे जगत रक्षक! राजा के अभाव में हम लोग विनाश की ओर उन्मुख हो रहे हैं। आप हम लोगों की रक्षा के लिए कोई राजा की नियुक्ति कीजिए। वह हम लोगों की रक्षा करेगा हम लोग उसकी पूजा करेंगे।" लोगों की प्रार्थना सुनकर ब्रह्मा से मनु की ओर संकेत किया, पर मनु राज्य के झंझटों के कार्यों को देखकर कहने लगे 'हे जगतरक्षक ! मुझे उन व्यक्तियों पर जो कि अधि कितर अपने व्यवहार में वली होते हैं, पर शासन करना कठिन प्रतीत होता है और इस पाप कर्म का मुझे बड़ा भय है।''[16] प्रजाजनों ने मनु से अनुरोध करते हुए कहा कि आप किसी प्रकार से भयभीत न हों। हम लोग राज्य के संचालन के लिये आपको पशुओं तथा सोने का 5वाँ भाग तथा धान्य का 10वाँ भाग कर के रूप में प्रदान करेंगे। आपका कोष बढ़ेगा। प्रजा के कमाए गए धर्म में भी 1/4 भाग आपका होगा। इसी त्याग के बदले हम आपसे कामना करते हैं कि जिस प्रकार इन्द्र, देवताओं का पालन करते हैं। उसी प्रकार आप भी हम सभी लोगों का पालन करें। मनु प्रजाजनों की बात सुनकर राजी हो गये और उन्होंने लोगों को उनके स्वयं के कार्यों में रत किया। इस अनुबंध सिद्धांत की कई विद्वानों प्रो. अल्तेकर आदि ने यह कह कर आलोचना की है कि जब समाज में अव्यवस्था फैली थी तो लोग अपने कर्तव्यों व अधिकारों के प्रति कैसे सचेत हो गए। इस प्रकार यह अवधारणा कल्पित ही प्रतीत होती है।

4- jkT;kRifÙk dk fodkl okn fl)kr ¼vk/kfud fl/nkr½

डॉ. अल्तेकर के मतानुसार हिन्दु राज्य शास्त्र की विचारधारा मूलरूप में आधुनिक विचारधारा पर आधारित है। प्राचीन काल में जिस प्रकार में हम राज्य की उत्पति का अध्ययन करते हैं, आर्य जाति के विषय में इस प्रकार का सोचना अल्तेकर के अनुसार अनुपयुक्त प्रतीत होता है। उनके विचार से राज्य की उत्पत्ति कुटुम्ब पद्धति के विकास से धीरे–धीरे हुई है। डॉ. अल्तेकर की इस विचारधारा के

समर्थन में अनेक प्रमाण भी विद्यमान हैं। आर्य लोग प्रारम्भ में बड़े–बड़े संयुक्त परिवारों में रहते थे। होमर ने इस प्रकार के परिवारों का उल्लेख किया है। जिसके सदस्यों की संख्या 300 थी। जिसे परिवार के किसी व्यक्ति को दण्ड देने, बेचने, बध करने का अधिकार होता था। यह स्थिति पिता की थी। इसी कुटुम्ब का क्षेत्र विकसित होता गया और धीरे–धीरे इसका परिवर्तन एक गांव के अन्तर्गत हो गया और इसी के साथ ही गांव के मुखिया के अधिकार क्षेत्र में काफी वृद्धि हो गयी। ग्राम का मुखिया 'ग्रामणी" कहलाता था। ग्राम से "विश", विश के प्रमुख को विशपति कहा जाता था। बिश से 'जन' जन के प्रमुख को पहले जनपति कहा जाता था, बाद में राजा कहा जाने लगा।[19] इसी प्रकार यह सिद्धांत राज्योत्पति में संयुक्त परिवार को आधार के रूप में मानता है। आज की विकसित व्यवस्था उसी का रूप है। परिवार के प्रधान मुखिया का, परिवार के अन्य सभी सदस्य सत्कार करते थे। सामाजिक संस्थाएं धीरे–धीरे विकसित होतीं गई। परिवार के मुखिया के अनुकूल वातावरण उत्पन्न करने के लिये उसको और अधिक सम्मानित किया जाने लगा। शतपथ ब्राह्मण में राजा को पिता के समान स्वीकार किया गया है। ठीक उसी प्रकार वह राजा भी प्रशंसनीय है, जिसके राज्य में प्रजा निर्भौक होकर सुख पूर्वक निवास करती है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन समय में प्रजा और राजा के मध्य पिता–पुत्र के सम्बन्ध स्थापित थे। इन सभी बातों के आधार पर हम कह सकते हैं कि राज्य की उत्पत्ति संयुक्त परिवार के आधार पर हुई है।[20] इस संबंध में प्रो. अल्तेकर का विचार उल्लेखनीय है। उनके अनुसार 'यह संयुक्त परिवार की संस्थायें ही धीरे–धीरे राज्य की ओर बढ़ने लगीं। इस प्रकार राज्य के अभ्युदय में पारिवारिक संस्थाओं ने, पारिवारिक सम्पति के भाव के साथ महत्वपूर्ण भाग लिया।"

fu"d"k

सभी विद्वानों के विवेचन के बाद यह निष्कर्ष निकलता है कि राज्य का विकास धीरे–धीरे हुआ है अर्थात सभी सिल्द्रांतों में राज्य की उत्पति का आधुनिक विकासवादी सिद्धांत अत्याधिक उपयुक्त व महत्वपूर्ण है और इसी के आधार पर

राज्य की उत्पत्ति हुई है। फिर भी देव, उत्पत्ति युद्ध मूलक, व सामाजिक समझौते के सिद्धांतों को नकारा नहीं जा सकता है।

jkT; d i:dkj ¼Lo:i½

राज्य के विविध प्रकारों (स्वरूपों) के विषय में प्राचीन भारतीय राजशास्त्र के लेखकों ने अधिक विवेचन नहीं किया। प्राचीन काल में प्रधानता राज्य का स्वरूप नृपत्रतात्मक था। इस कारण अधिकांश राजशास्त्रों ने राजतंत्र की अच्छाईयों व बुराईयों तक ही अपने वर्णन को सीमित किया है।[21] इसके अतिरिक्त प्राचीन राजशास्त्र के अन्तर्गत विभिन्न प्रकारों के शब्दों का प्रयोग किया गया है। जिनमें प्रायरू राज्य के स्वरूप (प्रकारों) का बोध होता है। ऐतरेय ब्राह्मण में विभिन्न भू–भागों के राज्यों के स्वरूप को दर्शाने के लिए विभिन्न प्रकार के शब्दों को प्रयुक्त किया गया है जैसे – भौज्य, स्वराज्य, वैराज्य, गणराज्य द्वैराज्य तथा साम्राजय।[22] उसी प्रकार के अनेक शब्दों का प्रयोग बौद्ध व जैन ग्रंथों में राजा के स्तर को दर्शाने के लिए किया गया है। 'चक्रवर्ती सम्राट से आशय है कि जो विश्व विजय प्राप्त करता है।'' कौटिल्य ने सार्वभौमिक राज्य के लिए 'चक्रवर्ती' शब्द का प्रयोग किया है। राज्य शास्त्र के प्राचीन ग्रंथों के अनुसार प्राचीन समय में दो प्रकार के राज्य पाये जाते थेः–

1- x.kjkT;

गणराज्य का तात्पर्य ऐसे राज्य से है जिसका संचालन किसी व्यक्ति के हाथ में न होकर समूह व लोगों के हाथ में हो। डॉ. काशीप्रसाद जायसवाल का मत है कि गण का मुख्य अर्थ है 'संस्था या समूह'' इसलिए गणराज्य का अर्थ होगा जो राज्य एक किसी समूह द्वारा चलाया (संचालित) किया जाए।' अर्थात गणराज्य उस शासन व्यवस्था को कहते हैं जिसका संचालन बहुत से व्यक्तियों द्वारा किया जाता हो गणराज्य के स्वरूप को जातक, महाभारत, अमरकोष, अबदान शतक तथा जैन ग्रन्थों में उल्लेखित किया गया है। जातकों के अनुसार गण का निर्माण कृत्रिम होता था। इसी प्रकार महाभारत के अनुसार गणराज्य अपनी नीति, सुव्यवस्था, युद्ध निपुणता के लिए प्रसिद्ध थे। उनके लिए 'गण राज्य' शब्द का प्रयोग किया है।

धर्मशास्त्र व अमरकोष के अनुसार विद्वानों ने गणराज्यों को कृत्रिम संगठन बताया है। अवदान शतक के अनुसार गणराज्य किसी एक राजा के राज्य का विलोम था। जैन ग्रंथों में पुर, गण, बहुगण आदि कई शब्दों का प्रयोग किया गया है। जो विभिन्न गणराज्यों के अस्तिव का बोध कराते हैं। इससे लगता है कि प्राचीन काल में प्रजातन्त्रात्मक शासन पन्द्रति विन्द्रमान थी। जैन ग्रंथों में 'संघ' शब्द का प्रयोग किया गया है। कई विद्वानों ने गण व संघ को समानार्थी बताया इसका अभिप्राय राजनीतिक संगठन से लगाते हैं। जो प्रजातांत्रिक व्यवस्था का बोध कराते हैं।

2- d|yjkT;

गण के अन्तर्गत जो राजतन्त्रीय तथ्य होता था उसे कुल कहा जाता था। कुल का अभिप्राय वंश से है। प्राचीन ग्रंथों में कुलों को गण के वर्ग में सम्मिलित किया जाए। इस प्रकार कुल राज्य का अभिप्राय वंशानुक्रम राज्य से है। इस प्रकार के राज्यों का संचालन थोड़े से कुलों द्वारा किया जाता था। क्रम तथा विक्रम को इस प्रकार के राज्य का मूल्य माना जाता है। पुरूषानुक्रम से राज्य का चला आना क्रम है। इसमें राज्य को उत्तराधिकार में पाया जाता है। पराक्रम से राज्य प्राप्त करना विक्रम है।

अन्य प्रकार के राज्य – गणराज्य व कुल राज्य के अतिरिक्त भी प्राचीन समय में कई प्रकार की शासन प्रणालियाँ प्रचलित थीं। जिन्हें इस प्रकार विभाजित किया जा सकता हैः–

1. भोज्य शासन प्रणाली
2. स्वराज्य शासन प्रणाली
3. वैराज्य शासन प्रणाली
4. राष्ट्रिक शासन प्रणाली
5. द्वैराज्य शासन प्रणाली
6. आराजक राज्य

7. राजन्य शासन प्रणाली

1- HkkT; 'kklu çkyh

ऐतरेय ब्राह्मण[24] महाभारत तथा अशोक के शिलालेखों में भोज्य शासन प्रणाली का उल्लेख मिलता है। महाभारत में अनेक राज्यों का वर्णन किया है। भोज्य उनमें से एक है। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार जहाँ एक से अधिक शासको को शासनधिकार प्राप्त होता था। उस शासन प्रणाली को भोज्य शासन प्रणाली कहा जाता है। डॉ. काशीप्रसाद जायसवाल का मत है कि यह बात विशेष रूप से ध्यान देने की है। जाति का यह नाम ''भोज्य उनके नेताओं व शासकों के कारण पड़ा था। आगे चलकर परवर्ती शाखा में ये भोज्य लोग, यादवों की शाखा या उपजाति के रूप में उल्लेखित हैं। इस शासन प्रणाली का उल्लेख पालित्रिपिटक में किया गया है। इस प्रकार की शासन प्रणाली पूर्वी भारत में थी।''[25]

2- LojkT; 'kklu çkyh

स्वराज्य शासन प्रणाली का उल्लेख ऐतरेय बाह्मण में किया गया है। इस प्रकार की शासन प्रणाली पश्चिम भारत में प्रचलित थी। इसके शासक या सभापति को स्वराष्ट्र कहा जाता था। इस शासन प्रणाली में लोग अपने मध्य में से किसी व्यक्ति को चुन लेते थे। जो शासन कार्य का संचालन करता था।[26] तैतरीय ब्राह्मण के अनुसार वाजपेय यज्ञ सम्पन्न करने वाला पराक्रमी, स्वराज्य को प्राप्त करता था।[27] इसमें स्वराष्ट्र बनने से पूर्व अपनी शक्ति (योग्यता) को प्रदर्शित करना होता है। डॉ. जायसवाल के अनुसार यजुर्वेद के समय में स्वराज्य शासन प्रणाली उत्तरी भारत में प्रचलित थी।[28]

3- oSjkT; 'kklu çkyh

वैराज्य शासन प्रणाली का उल्लेख कौटिल्य के अर्थशास्त्र तथा ऐतरेय ब्राह्मण में किया गया है।[29] जो भारत में हिमालय के निकटवर्ती भाग में प्रचलित थी। इसी प्रकार यजुर्वेद में वैराज्य शासन प्रणाली का दक्षिण भारत में प्रचलित होने के उल्लेख है।[31] कौटिल्य ने भी अपने ग्रन्थ अर्थशास्त्र में वैराज्य का उल्लेख किया है। कौटिल्य के अनुसार वैराज्य प्रजा के हित के अनुसार चलता है। यह सभी के भोगने

योग्य राज्य होता है। वैराज्य का अभिप्राय राजा रहित राज्य से नहीं होता है परन्तु यह एक ऐसा राज्य है। जिसमें राज्य का संचालन भोज्य (जनता) करती है। कौटिल्य के मतानुसार वैराज्य शासन प्रणाली को अस्वीकृत किया जाना चाहिए। क्योंकि इसमें अनेक दोष विद्यमान हैं।[32] ऐसे राज्य को लोकतंत्रात्मक कहना उचित होगा। क्योंकि इसमें ''भोज्य जाति'' समूह के लोक राज्य का संचालन करते थे। परन्तु इसे सभी प्रकार के लोग भोग सकते थे। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में जिस वैराज्य राज्य का उल्लेख किया है। वह लोकतंत्रात्मक था और नृपतंत्र से भिन्न था।

4- jkf"Vªd 'kklu ç.kkyh

राष्ट्रिक शासन प्रणाली भी प्राचीन भारत प्रणाली का रूप है। इसमें वंशानुक्रम राजा नहीं होता है। पालीत्रिपटक में उल्लेख है कि वह पूर्वी भारत में प्रचलित थी। डॉ. जायसवाल के अनुसार भोज्य जाति के समान ही इसका नामकरण हुआ है। यह शासन प्रणाली पश्चिम भारत के राष्ट्रिक लोगों में प्रचलित थी। यह प्रजातंत्रीय शासन प्रणाली थी।

5- }kjkT; 'kklu ç.kkyh

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में वैराज्य शासन प्रणाली के अतिरिक्त द्वैराज्य प्रणाली का उल्लेख भी किया गया है।[33] बताया गया है कि यह प्रणाली घृणा व संघर्ष के कारण नष्ट हो जाती है। द्वैराज्य के अन्तर्गत दो राजाओं का शासन होता है। जैन ग्रन्थों में कहा गया है कि जैन भिक्षुओं को द्वैराज्य शासक वाले राज्यों में नहीं रहना चाहिए। महाभारत के अनुसार निन्द व अनिन्द मिलकर शासन करते थे। इसमें दो राजाओं द्वारा एक शासन किया जाता है। अल्तेकर के अनुसार भारत में द्वैराज्य या दो राजाओं द्वारा शासित राज्य थे।[34]

6- vjkt d jkT;

अराजक राज्य के अर्थ यहाँ अशांति से परिपूर्ण राज्य नहीं है। अराजक राज्य से अभिप्राय बिना राजा के शासन से है। डॉ. जायसवाल के अनुसार इस प्रणाली का आदर्श था धर्म शास्त्र या कानून को, शासक मानना चाहिए न कि व्यक्ति विशेष

को शासन का आधार लोगों का परस्पर बंधन था। महाभारत में इस प्रकार के शासन की हँसी उड़ाई गई है। महाभारत के अनुसार जब इस प्रकार की शासन प्रणाली से काम नहीं चला तब ही राजतंत्रात्मक शासन व्यवस्था का उदय हुआ। इस प्रकार की शासन प्रणाली प्राचीन भारत में प्रचलित थी। जैन सूत्रों में भी अराजक राज्य का उल्लेख है। डॉ. जायसवाल के अनुसार यह शासन व्यवस्था छोटे–छोटे राज्यों में लागू रही होगी। प्राचीन भारतीयों ने अराजक राज्य को अधिक प्रशंसा की दृष्टि से नहीं देखा था।

7- jktU; 'kklu ç.kkyh

इस प्रकार की प्रणाली में गद्दी से बैठने से पूर्व शासन के राज्याभिषेक जरूरी माना गया है। जब तक राज्याभिषेक नहीं हो जाता था। तब तक शासन अस्तित्व में नहीं आता था। राज्याभिषेक के समय शासकों को धर्मपूर्वक राज्य करने की शपथ ग्रहण करनी पड़ती थी। लिच्छिवि व मल्ल इसके उदाहरण हैं। राजमुकुट धारण के पूर्व शासकों के लिए राज्याभिषेक महत्वपूर्ण माना गया है।

fu"d"kZ

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि प्राचीन काल में भारत में राज्य का स्वरूप विविध रूपों में विद्यमान था। विभिन्न प्रकार के शासन तथा शासन प्रणालियाँ प्रचलित थीं। प्राचीन भारत में गणराज्य व कुल राज्य के अलावा भी अन्य शासन प्रणालियाँ थीं। महाभारत, कौटिल्य का अर्थशास्त्र, ऐतरेय, तैतरीय ब्राह्मण में भी राज्यों के स्वरूप के बारे में कम ही विवरण मिलता है। किन्तु ज्यादा सही लगता है कि गणराज्य व कुल राज्य के अतिरिक्त भी अन्य राज्य प्राचीन भारत में अस्तित्व में थे। प्राचीन भारत में प्रधानतारू राज्य का स्वरूप नृपत्रतात्मक था। गणराज्य, कुल राज्य तथा अन्य अनेक स्वरूपों (प्रकारों) में राज्य अस्तित्व में थे।

jkT; d dk;

प्रत्येक संस्था के अपने निश्चित कार्य होते हैं। संस्था के कायों की अपनी नियमावली या संविधान होता है। वह लिखित न हो किन्तु व्यवहार में अंतर्निहित

होता है। कार्यों के बिना संस्था का महत्व व अस्तित्व असंभव है। प्राचीन विद्वानों ने राज्य को अनिवार्य संस्था माना है।

महाभारत के अनुसार राज्य का प्रमुख कार्य है कि वह प्रजा से वणांश्रम व धर्म व्यवस्था का पालन कराये, धर्म पालन करने वालों को संरक्षण प्रदान करे, धर्म के उल्लंघन करने वालों को दण्ड दे, सामाजिक व्यवस्था का संरक्षण करे, राज्य में स्थापित नियमों की व्याख्या करें तथा उनके अनुसार प्रजा को दण्ड दे, सम्पूर्ण राज्य में न्याय व्यवस्था बनाये रखने के लिए न्यायालयों (अदालतों) की विद्वानों, दार्शनिकों, वैज्ञानिकों को संरक्षण व सहायता दे, प्राकृतिक आपदाओं बाढ़, भूकम्प, अकाल, महामारी से प्रजा की रक्षा करे, शिक्षा, स्वास्थ्य सेवाओं की व्यवस्था करे, व्यापारी वर्ग की सहायता करे, राज्य मानव को अनैतिक जीवन से दूर रखने के लिए मदिरालय, वेश्यालय, जुआघरों पर नियंत्रण रखे।[35]

jkT; d dk;k d fo"k; e dkfVY; d fopkj

कौटिल्य का अर्थशास्त्र राज्य के कार्यों की विशद् रूप में व्याख्या करता है। उसने राज्य के अनिवार्य कायाँ का विस्तार से वर्णन किया है। उसने अपेक्षित कायों का भी वर्णन किया। अर्थशास्त्र के अनुसार ''सुख का मूल धर्म है, धर्म का मूल अर्थ है, अर्थ का मूल राज्य है।'' कौटिल्य के अनुसार राज्य के कार्य केवल प्रजा की सुरक्षा ही नहीं वरन उसकी सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, न्यायिक आदि सभी प्रकार की उन्नति करना भी है। सांस्कृतिक उत्थान करना भी राज्य का आवश्यक कर्तव्य है।[36]

jkT; d çe[k dk;

अनिवार्य कार्य	ऐच्छिक कार्य
1. बाह्य आक्रमण से सुरक्षा	1. सामाजिक कार्य
2. कर व्यवस्था	2. धार्मिक कार्य
3. आन्तरिक व्यवस्था	3. आर्थिक कार्य
4. मुद्रा व्यवस्था	
5. न्याय व्यवस्था	

vfuok;Z dk;Z &

1- cká vkØe.kksa ls lqj{kk

राजा का प्रमुख कार्य बाह्य आक्रमणों से सुरक्षा करना है। राजा, दूसरे शक्तिशाली राज्यों के होने वाले आक्रमणों से अपने राज्य की रक्षा करे। यह उसका मूल कर्तव्य है। राजा को चाहिए कि प्रजा की सुरक्षा के लिए दुर्गों का निर्माण कराए। बाह्य आक्रमणों से रक्षा के लिए कुशल सैनिकों व्यवस्था करनी चाहिए। इस सेना में योग्य व अनुभवी सैनिक होना चाहिए। जिससे बाहरी आक्रमणों से डटकर मुकाबला किया जा सके। राजा को अपने गुप्तचरों द्वारा अपने राज्य के तथा दूसरे राज्य के षडयंत्रों का पता लगाना चाहिए। मुख्यतः बाहरी आक्रमण या युद्ध तीन कारणों से होता है। धन, स्त्री तथा भूमि। यही युद्ध के तीन प्रमुख कारण कौटिल्य ने भी बताए हैं। इसके उदाहरण हमें रामायण तथा महाभारत दृष्टातों में मिल जाते हैं। महाभारत के अनुसार राजा को चाहिए कि वह शत्रुओं को पकड़कर यमराज की भांति दण्ड देने को उद्यत रहे।[37]

2- dj 0;oLFkk

कौटिल्य के समय तथा उसके पूर्व प्रजा का आर्थिक जीवन अधिकांशतरू राज्य द्वारा संचालित होता था। कौटिल्य ने कहा है कि राजा को हर संभव प्रजा की उन्नति के प्रयास करने चाहिए। इसके लिए उसे प्रजा से उसकी क्षमतानुसार कर लेना चाहिए। 'जिस प्रकार मधुमखी फूलों से रस लाकर शहद इकट्ठी करती है, उससे फूल की खुशबू भी नहीं जाती है और शहद भी काफी मात्रा में एकत्रित हो जाती है। उसी प्रकार राजा को प्रजा से कर लेना चाहिए।'' जिससे प्रजा कर आसानी से दे सकें और अपना पारिवारिक जीवन कुशल ढंग से चला सके। राजा को चाहिए कि प्रजा को खेती, स्वास्थ्य, शिक्षा की व्यवस्था करे। जिसे प्रजा सुखी होगी और धन–धान्य से पूर्ण होगी। जिससे वह पर्याप्त रूप में कर देकर राजकोष में वृद्धि करेगी। जिससे राज्य में अन्य सामाजिक न्यायायिक आदि कार्य हो सकेंगे। राजा व्यापार, सड़क, खदानों आदि का उपयोग करने वालो से कर ले और उनकी उचित व्यवस्था करे। राज्य संचालन के लिए कृषि, व्यापार, अन्य कर लेवे। 1/8, 1/6 भाग व 1/10 भाग प्रजा से कृषि आदि की कर के रूप में लिया जाता था।

कौटिल्य ने कहा है कि ''व्यक्ति को गाय से अपनी आवश्यकता के अनुसार दूध निकलना चाहिए और ध्यान रखना चाहिए। कि उसका बछड़ा भूखा न मर जाये। इसी तरह राजा की प्रजा से उसकी क्षमतानुसार कर लेना चाहिये।''

3- vkUrfjd 0;oLFkk

राजा की चाहिए कि राज्य में शान्ति व्यवस्था बनाये रखे। राज्य के षड़यंत्रों को, गुप्तचरों की सहायता से पता कर, समाप्त कर देना चाहिए। अपने राज्य में किसी भी प्रकार की अशान्ति न फैले इसके लिए उसे गुप्तचर व्यवस्था तथा आरक्षी व्यवस्था को मजबूत करना चाहिए। राजा अपने राज्य में देशद्रोहियों को न पनपने दे। उनका अन्त कर देना चाहिए। राज्य के असंतुष्ट लोगों से अपने राज्य की रक्षा करना व उन लोगों को राज्य के प्रति संतुष्ट करना चाहिए। राज्य में शान्ति व्यवस्था व प्रजा सही कुशल ढंग से जीवन व्यतीत कर सके, इसके लिए राजा की उत्तम योजनाएँ बनानी चाहिए। जिससे प्रजा राजा से संतुष्ट रहे। राजा को अपने राज्य में प्रवेश करने वाले हर संदिग्ध व्यक्ति की जानकारी करवानी चाहिए। जिससे राज्य में षडयंत्र न हो और शान्ति व्यवस्था बनी रहे।

4- eæk 0;oLFkk

राजा को मुद्रा की व्यवस्था करनी चाहिए। जिससे राज्य में वस्तुओं के क्रय–विक्रय सुगमता हो और व्यापार हो सके। राज्य को अपनी योग्यतानुसार चांदी, सोने, तांबे की मुद्रा चलानी चाहिए। मुद्रा पर राज चिन्ह आदि होने चाहिए। जिससे प्रजा को उस मुद्रा पर विश्वास हो। इसलिए राजा को मुद्रा प्रबन्ध की उचित व्यवस्था करना चाहिए। प्राचीन समय में टकसाल इस कार्य को करती थी और मुद्राओं के साँचे बनाये जाते थे। जो साँचों से मुद्राएँ निर्मित की जाती थी। हमें उत्खनन प्राप्त होती हैं।

5- U;k; 0;oLFkk

राजा का अनिवार्य कार्य में न्याय व्यवस्था प्रमुख है, क्योंकि समाज में व्यक्ति दो तरह से जीवन व्यतीत करते हैं। एक नैतिक और दूसरा अनैतिक। अनैतिक तरीके से जीवन व्यतीत करने वाले व्यक्ति को दण्डित करने की व्यवस्था करना,

न्यायालयों की व्यवस्था कर उन व्यक्तियों को दण्ड देना न्यायालय के कार्य थे। इसकी व्यवस्था राजा को करनी पड़ती थी। प्राचीन समय में कई न्यायालय होते थे। प्रथम, ग्राम न्यायालय या ग्राम पंचायत दूसरे, नगर न्यायालय, तीसरे, नगरीय न्यायालय बनाये जाते थे। इनकी व्यवस्था राजा करता था। राजा का, स्वयं का न्यायालय प्रमुख राजधानी में होता था। वह सर्वोच्च न्यायालय होता था। राजा का निर्णय अंतिम होता था। इसके बाद कहीं अपील नहीं कर सकता था। राजा पक्ष–विपक्ष के मत सुनने के बाद निर्णय करता था। राजा अपनी सहायता के लिए प्राड् विवाक नामक अधिकारी का चयन करता था। यह राजा की न्याय सम्बन्धी समस्याओं को सुलझाता था। यह वेदों आदि का ज्ञानी होता था। प्राचीन समय में न्याय करते समय किसी के साथ भाई भतीजावाद नहीं किया जाता था। नियमानुसार सभी को उचित दण्ड दिया जाता था। न्याय व्यवस्था करना राजा का अनिवार्य प्रमुख कर्तव्य था। इसके बगैर राज्य नहीं चल सकता है। और मत्स्य न्याय का बोलबाला हो जाता है। इसलिए न्याय व्यवस्था राजा का प्रमुख कर्तव्य माना गया है।

,fPNd dk;l &

1- lkekftd dk;l

सामाजिक कार्य यह राज्य के ऐच्छिक कार्य हैं। इनमें प्रमुख रूप से समाज के लिए किये गये कार्य आते हैं। जैसे सफाई व्यवस्था–नगर या राज्य में सफाई व्यवस्था करना, जिससे गंदगी या फैले यह राजा का ऐच्छिक कार्य था। यह समाज के लोग भी मिलकर कर सकते थे। किन्त राजा इसकी व्यवस्था के लिए समिति गठित करते थे। जो सफाई व्यवस्था का कार्य करती थी। दूसरा, सामाजिक कार्य शिक्षा की व्यवस्था करना था। जिससे प्रजा सुशिक्षित हो सके और अपना जीवन नैतिक तरीके से व्यतीत कर सके। इसके लिए प्राचीन समय में आश्रमों में शिक्षा दी जाती थी। आश्रम चलाने के लिए राजा की सहायता करनी चाहिए। सैन्य शिक्षा, वेदों का अध्ययन, स्वास्थ्य शिक्षा आदि की व्यवस्था करनी चाहिए। तीसरा, प्रकाश व्यवस्था करना– नगर में प्रकाश व्यवस्था नगर के समीप सड़कों पर प्रकाश व्यवस्था करना राजा का कार्य था। राज्य के अन्तर्गत आने वाले क्षेत्र में राजा को सड़क की

व्यवस्था करनी चाहिए। जिससे व्यापारी वर्ग व अन्य लोगों को आवागमन की सुविधा हो। सड़कों के किनारे पेड़, पानी आदि की व्यवस्था करवानी चाहिए। राजा के चाहिए कि नगर में प्रजा को पीने के पानी की उत्तम व्यवस्था करें। स्वच्छ जल प्रजा की उपलब्ध हो सके। राजा को प्रजा के स्वस्थ्य लाभ के लिए नगर में चिकित्सालयों की व्यवस्था करनी चाहिए। जिससे मनुष्य स्वस्थ रहें और अपना जीवन कुशलता पूर्वक व्यतीत कर सके। यह राजा के प्रमुख सामाजिक कार्य थे। इनको पूरा करना राजा का कर्तव्य होता था।

2- /kkfe!d dk;!

प्राचीन भारतीय विचारक राज्य को, सर्वोच्च ईश्वरीय सत्ता मानते हैं। राज्य में धर्मानुसार कानून व सभी कार्य किये जाते थे। महाभारत में राज्य का सर्वप्रमुख कार्य वर्णाश्रम व धर्म का प्रजा से पालक करवाने की बात कही गई है। प्राचीन समय में चार पुरूषार्थों– धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, माने गये हैं। इनसे धर्म को प्रमुख माना गया हो। विद्वानों ने माना है कि मनुष्य को धर्मानुसार चारों पुरूषार्थ का पालन करना चाहिए। राजा का कर्तव्य था। कि वह धर्म पालन करने वालों को संरक्षण प्रदान करे और धर्म का उल्लंघन करने वालों को दण्ड की व्यवस्था करे। राज्य को देखना चाहिए कि सभी राज्य के नागरिक अपना जीवन धर्मानुकूल तरीके से जी रहे हैं या नहीं। इसके लिए राजा पंडित नामक व्यक्ति की नियुक्ति करता था। वह समान में धर्म सम्बन्धित जानकारी देता था। तथा लोगों को धर्मानुकूल चलाने की कोशिश करता था। धार्मिक कार्यों में प्रमुख मंदिर आदि की स्थापना करवाना जिससे प्रजा एक जगह संगठित हो और मोक्ष प्राप्ति के लिए प्रयत्न करें व नैतिक जीवन व्यतीत कर सके। राजा को श्रेष्ठ विद्वानों को राज्य में रखना चाहिए। जो प्रजा को अच्छे उत्तम आदर्श समझा सके। उत्तम राज्य संचालन के लिए धार्मिक कार्य जरूरी है।

3- vkfFkd dk;!

1. व्यापार व्यवस्था 2. खानों–वनोपज की व्यवस्था 3. कृषि समृद्धि की व्यवस्था।

कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में लिखा है कि राजा को प्रजा कि आर्थिक उन्नति के लिए उपाये करने चाहिए। कृषि कार्य के लिए राजा निर्धन लोगों को हल, बैल बीज

देकर उनकी सहायता करे। राजा की चाहिए कि देश में उत्पन्न होने वाली वस्तुओं को क्रय विक्रय तथा सोना–चाँदी व उत्तम रत्नों आदि की, खदानों की उचित व्यवस्था करे। व्यापारी वर्ग के लिए मार्ग में आने–जाने व राज्य में व्यापार की सुविधाएं प्राप्त करवाए। इसके अतिरिक्त कौटिल्य ने कहा है कि कुछ उद्योग विशेष, राज्य के एकाधिकार में आने चाहिए, जैसे खनिज पदार्थ और उसमें बहुमूल्य रत्न जैसे सोना वा चाँदी आदि राज्य को प्रजा की सुविधाओं के लिए व व्यापारी वर्ग के लिए नौकाओं, जलयानों का भी प्रबन्ध करना चाहिए। इस प्रकार राज्य की चाहिए कि वह प्रजा को अर्थ से सम्पन्न बना दें।

fu"d"k

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन भारत में राज्य के कार्यों का क्षेत्र विस्तृत था और राज्य प्रायः सभी प्रकार के ऐसे कार्य करता था जिनसे प्रजा की रक्षा हो, उसके सुख व समृद्धि में वृद्धि हो और व्यक्ति को सर्वागीण विकास के लिए समुचित अवसर मिले। कौटिल्य ने केवल अनिवार्य कार्यों तक ही राज्य के कार्यों को सीमित न रखकर उनको ऐच्छिक कार्यों तक बढ़ाया है और उनकी वैज्ञानिक दृष्टि से तथ्यात्मक विवेचना प्रस्तुत की है।

प्राचीन भारतीय विद्वानों और आचायों ने कल्याणकारी राज्य के सिल्द्रांत का समर्थन किया है। कौटिल्य के अनुसार राज्य का उद्देश्य प्रजा का कल्याण करना है। आचार्य कौटिल्य ने कहा है कि राज्य प्रजा की भौतिक व आध्यात्मिक उन्नति का साधन है। राजा की व्यवस्था केवल इसीलिए ही नहीं की गई कि वह मात्र बाध्य आक्रमणों से प्रजा की सुरक्षा मात्र कर सके। वरन राजा को चाहिए कि वह राज्य का सर्वागीण विकास कर सके। राजा का कर्तव्य बाह्य आक्रमण से सुरक्षा तथा आन्तरिक शान्ति व्यवस्था बनाये रखने के साथ–साथ प्रजा का आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, नैतिक, न्यायिक व धार्मिक विकास करना है।

I nHk

1. शरण, परमात्मा, प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थाएँ, मेरठ, 1977 (चतुर्थ संस्करण), पृ. 153
2. यादव, सुषमा एवं शर्मा, रामअवतार, भारतीय राज्य उत्पति एवं विकास, दिल्ली, 2000, पृ. 77
3. मनुस्मृति, 7, 3–7
4. महाभारत, शांति पर्व, 220, 7
5. वही
6. कौटिल्यीय अर्थशास्त्र, 1.9, 13.1
7. बंसल, कैलाश चन्द्र, हिन्दू राजशास्त्र, कानपुर, 1972, पृ. 50
8. ऐतरेय ब्राह्मण, 1.14
9. शरण, परमात्मा, पूर्वोल्लिखित, पृ. 302
10. वही, पृ. 303
11. शर्मा, हरीशचन्द्र, प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचार एवं संस्थाएं, जयपुर, 1970, पृ. 119
12. शरण, परमात्मा, पूर्वोल्लिखित, पृ. 304
13. यादव, सुषमा एवं शर्मा, रामअवतार, पूर्वोल्लिखित, पृ. 65
14. अल्तेकर, ए.एस., प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, इलाहाबाद, संवत् 2026, (चतुर्थ संस्करण) पृ. 22
15. अर्थशास्त्र, 1–9
16. महाभारत शांति पर्व, अध्याय – 67.20–21
17. वही, 67.21–28
18. वही

19. अल्तेकर, ए.एस., पूर्वोल्लिखित, पृ. 26

20. यादव, सुषमा एवं शर्मा, रामअवतार, पूर्वोल्लिखित, पृ. 65

21. अल्तेकर, ए.एस., पूर्वोल्लिखित, पृ. 27

22. ऐतरेय ब्राह्मण, 8.15

23. जायसवाल, के.पी., हिन्दु पॉलिटी, बैंगलोर, 1955, पृ.21–23

24. ऐतरेय ब्राह्मण, 8.14

25. जायसवाल, के.पी., पूर्वोल्लिखित पृ.75–76

26. शर्मा, हरीशचन्द्र, पूर्वोल्लिखित, पृ.138

27. वही

28. जायसवाल, के.पी., पूर्वोल्लिखित पृ.77–78 एवं 82–83

29. शरण, परमात्मा, पूर्वोल्लिखित, पृ.308

30. शर्मा, हरीशचन्द्र, पूर्वोल्लिखित, पृ.138

31. वही, पृ.139

32. शरण, परमात्मा, पूर्वोल्लिखित, पृ.311

33. अल्तेकर, ए.एस., पूर्वोल्लिखित, पृ.31–32

34. महाभारत, सभापर्व, अध्याय 5

35. अल्तेकर, ए.एस., पूर्वोल्लिखित, पृ.43

36. महाभारत शांति पर्व, 75.5

v/;k;&2

jktin] ef=ifj"kn] lIrkx fl)kUr

प्राचीन भारतीय साहित्य में वर्णित प्रसंगों के अनुसार राज्य में राजा का महत्व सबसे अधिक माना गया है। राजा ही प्रजा का संरक्षण करता है और शत्रु के घातक आक्रमण से सतत् उसकी रक्षा करता है।[1] राजा को वैदिक काल से ही धर्म का रक्षक, पोषक और समर्थक माना जाता रहा है। मानवीय संस्कृति की चार प्रमुख प्रवृत्तियाँ, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष हैं, इन्हें ही पुरूषार्थ माना गया है। पुरुषार्थ के प्रवर्तन के लिये समाज में समुचित वातावरण होना अत्यावश्यक है। इस दिशा में। समाज का संघटन करने का उत्तरदायित्व राजा, उच्च कोटि के विचारकों और आचायों पर रहा है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार राजा और श्रोत्रिय, धर्म के पालक हैं।[2] विचारक और आचार्य समाज की सुदृढ़ व्यवस्था के लिये योजनायें बनाते आये हैं और राजा उन योजनाओं को कार्य रूप में परिणित कराने का सूत्रधार रहा है। समाज संघटन की योजना के अंतर्गत राजा और प्रजा का जो सम्बन्ध स्थापित होता है, वह राजनीतिक जीवन का प्रथम रूप है। समाज में उपर्युक्त योजना के लिये अनुकूल परिस्थितियों की प्रतिष्ठा करना तथा प्रतिकूल परिस्थितियों का उन्मूलन करना राजा का उद्देश्य माना गया। इन प्रवृत्तियों से राजपद के उच्च आदशों का परिचय मिलता है। प्राचीन भारत में उच्च आदशों से प्रेरित होकर प्रजा की सेवा करने वाले राजाओं की अधिकता रही है। प्रजा ने। उन्हें पिता और देवता माना।[3] प्रजा और राजा का प्राचीन भारतीय राजशास्त्रियों के अनुसार समान महत्व हैं। विष्णुसंहिता में कहा गया है कि जो राजा प्रजा के सुख में ही अपना सुख देखता है, उनके दुख में अपना दुख देखता है, उसे संसार में प्रसिद्धि प्राप्त होती है और मृत्यु के पश्चात स्वर्ग की प्राप्ति होती है।[4]

राजपद एक आदर्श है, अतएव उसे जनता के समक्ष एक आदर्श व्यक्ति के रूप में प्रकट होना चाहिए। प्राचीन भारत में राजपद के आदर्श को कार्य रूप में प्रदर्शित करने के लिए शास्त्रकारों ने उसे आदर्श व्यक्ति बनाने के लिये, समस्त उपायों पर विचार किया है। राजा अपने उत्तरदायित्वों को, जिससे कि राजपद विभूषित है, वही व्यक्ति उठा सकता है जो गुणवान हो तथा हमेशा प्रजा के कल्याण

में लगा रहे। कौटिल्य, राजा में इन गुणों का प्रतिपादन करता है, उनके अनुसार वह अत्यन्त उच्च कुल का हो, उसमें दैवी शक्ति हो, वह वृद्धों की बात सुनने वाला हो, धार्मिक हो, उसका लक्ष्य बहुत ऊँचा हो, सामन्तों को वश में रखने में समर्थ हो, उसकी बुद्धि दृढ़ हो, उसकी मंत्रिपरिषद् छोटी न हो और वह नियंत्रित स्वभाव वाला हो। कौटिल्य के अनुसार राजा का पद (राजपद) बड़े महत्व का है, इन्द्रियों पर विजय, काम, क्रोध, लोभ, मान, भय आदि का त्याग और शास्त्र के अभिप्राय को क्रियान्वित करना करना उसके लिये अनिवार्य है।[6] प्राचीन काल में इन आदशों से युक्त राजा से भूषित राजपद को यदि दैवत्व पद तक पहुँचा दिया गया तो कोई अतिशयोक्ति न थी। प्राचीन भारत में राजपद में दैवीय गुण का समावेश किया गया। परन्तु राजा दैवीय अधिकार प्राप्त नहीं थे। यह माना गया है कि वह इन्द्र, वरुण और यम के गुणों से युक्त हो, परन्तु यह धारणा इसलिए थी क्योंकि वह ईश्वर द्वारा प्रतिपादित वणांश्रम धर्म का, प्रजा से पालन कराता था।

प्रो. अल्तेकर का मानना है कि राजपद की प्रतिष्ठा और महत्ता समयानुसार बदलती रही है। प्रांरभिक काल में राजपद अस्थिर था और उसकी शक्तियाँ अत्यन्त नियंत्रित थीं। उस समय का राजा,। अमीर सभा का केवल सदस्य था, जो कि शासन व्यवस्था पर पर्याप्त नियंत्रण रखती थी।[7] वैदिक काल में कई राजाओं को अपदस्थ करने के उदाहरण मिलते हैं। उत्तरवैदिक काल में ही राजा की प्रतिष्ठा पर्याप्त बढ़ गयी थी। सम्पूर्ण प्रजा पर राजा का प्रभुत्व था। कालान्तर में जब राज्यों के आकार बढ़ गये तथा समिति और संस्था का अस्तित्व समाप्त हो गया तो राजा की शक्तियाँ और भी बढ़ गयीं।

jkt in dh mRifr

राजा या राजपद की उत्पत्ति किस प्रकार हुई, इस सम्बन्ध में प्राचीन भारतीय साहित्य में अनेक कथाओं, कल्पनाओं एवं तकों के आधार पर विचार प्रकट किए गये हैं। प्राचीन भारतीय आचार्यों ने राजपद और राज्य में अधिक भेद नहीं किया है और दोनों के स्वभाव, कर्तव्य एवं स्थिति को लगभग एक जैसा बतलाया है। क्योंकि राजा की उत्पति से ही राज्य की स्थापना हुई। राज्य की उत्पति विषयक सिद्धांतों का विवेचन पूर्वगामी अध्याय में हो चुका है, फिर भी अति संक्षिप्त

रूप में राजा (राजपद) की उत्पति के सम्बन्ध में प्रमुख विचारों, संकल्पनाओं अथवा सिद्धांतों को विवेचित किया जा रहा है। वे निम्न प्रकार हैं :–

1- ;| dk fl)kr

प्रो. अल्तेकर ने वैदिक साहित्य की कथाओं के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है कि राजा की उत्पति का कारण सामूहिक आवश्यकता थी और वही व्यक्ति राजा बनाया जाता था जो कि रण में सफल नेतृत्व कर सके। युद्ध के समय नेतृत्व करने वाला, विजय प्राप्त करने के बाद सम्मान और शक्ति का अधिकारी बन जाता था। इस बढ़ी हुई शक्ति ने उसे राजपद प्राप्त करने का अवसर और क्षमता प्रदान की।

2- i|r'd fl)kr

प्रो. अल्तेकर के अनुसार प्राचीन कथाओं और संयुक्त कुटुम्ब के संगठन, दोनों सिद्ध करते हैं कि राजा की उत्पति समाज के पितृ प्रधान कुटुम्ब पद्धति से हुई है।[8] राजपद पैतृक सिद्धांत के आधार पर वंशानुगत बन गये।

3- fuokpu dk fl)kr

राजा के पद पर प्रतिष्ठित व्यक्ति को निवांचन के आधार पर शक्तियाँ सौंपी गयी थी। राजा को निवांचित करते समय उसके सामने कुछ शर्ते रखी जाती थीं और उससे यह आशा थी की जाती थी कि वह उन शतों का पालन करेगा। वैदिककाल के बाद भी राजाओं के निवाचन के प्रमाण मिलते हैं।[9] डॉ. के. पी. जायसवाल के अनुसार राजा के निर्वाचन का सिद्धांत एक राष्ट्रीय सिद्धांत था जो बहुत प्रचलित था। प्रो. अल्तेकर ने ऋग्वेद, अथर्ववेद, शतपथ ब्राह्मण आदि का उल्लेख करते हुए यह बताया है कि वैदिक काल में राजपद निवांचित था। राजपद पर बैठने के लिए व्यक्ति को उच्च वर्गीय कुलपतियों और विषयपतियों के समर्थन की आवश्यकता थी।

4- lkekftd lfonk dk fl)kr

महाभारत के अनुसार राजा की उत्पति के पूर्व जो विधि प्रचलित थी वह पवित्र एवं श्रेष्ठतम थी। राजा की उत्पति उस समय हुई जब प्रजा में ब्रह्मा द्वारा

रचित विधिसंग्रह के लागू करने की आवश्यकता हुई। राजा को प्रजा वत्सल रहने एवं नित्य धर्म पर स्थिर रहने की शपथ राजपद पाने के पूर्व लेनी पड़ती थी। राजा को निर्धारित प्रतिबन्धों के साथ राज्य मिलता था। महाभारत के अनुसार प्रजा ने राजा के साथ संविदा (समझौता) किया कि राजा उसका पालन करेगा और वह राजा को अपनी आमदनी का एक अंश देगी।

5- nSoh; fl)kar

राजा की उत्पति के दैवीय सिल्द्रांत का सर्वप्रथम संकेत उत्तर वैदिक कालीन साहित्य में मिलता है। जिसे बाद में महाकाव्यों, स्मृतियों और पुराणों में विस्तार से वर्णित किया गया है। इस सिद्धांत के अनुसार राजा को या तो देवताओं द्वारा नियुक्त माना गया अथवा उसे स्वयं देवता या देवताओं का अंश कहा गया।[10] महाभारत, शुक्र नीति, स्मृतियों एवं पुराणों में दैवीय स्वरूप का वर्णन हुआ है। विष्णु पुराण एवं भागवत पुराण में यह उल्लेख है कि राजा के शरीर में अनेक देवता निवास करते हैं। प्रो. अल्तेकर की मान्यता है कि केवल धर्मात्मा एवं पवित्र राजाओं को ही दैवीय माना जाता था जबकि बुरे और अपवित्र राजा शैतान या राक्षस कहे जाते थे।[11]

jkt dk nSoRo

राजा की उत्पति का दैवीय सिद्धांत अत्यन्त लोकप्रिय था। प्राचीन ग्रंथों में इससे संबंधित। अनेक कथानक दिये गये हैं। राजा को या तो देवताओं द्वारा नियुक्त माना जाता था या वह स्वयं देवता था। राजा को विभिन्न देवताओं का अंश कहा गया है। प्रो. अल्तेकर, राजा को दैवीय रूप का प्रतीक न मानकर, केवल उनकी प्रशंसा का परिचायक मानते हैं। राजा को देव स्वरूप मानने के पीछे यह धारणा थी कि राजा द्वारा वे अनेक कार्य किये जाते थे, जिन्हें देवताओं द्वारा सम्पन्न किया जाता था। यह मान्यता थी कि वह इन्द्र के समान अपनी प्रजा में आवश्यक वस्तुओं की वर्षा करता है, सूर्य की भांति राष्ट्र से कर लेता है, यम के समान अपराधियों को दण्ड देता है, वायु की भांति अपने दूतों के माध्यम से सभी में प्रविष्ठ हो जाता है और चंद्रमा के समान सभी के लिए सुखदायी है।[12] राजा के देवत्व की भावना जो ईसा की पहली सहस्त्राब्दी में इतनी सर्वमान्य थी, वैदिक काल में विद्यमान न थी।

उस काल में राजा का पद पूर्णतः लौकिक था। उत्तर वैदिककाल में ऐसा वातावरण उत्पन्न हो गया था जो राजा के देवत्व की भावना के विकास के अत्यन्त अनुकूल था। ईसवीं पहली शताब्दी में कुषाण राज्य की स्थापना से इस भावना को और भी बल मिला। चीनी परम्परा से प्रभावित होने के कारण इस वंश के राजा 'देवपुत्र" होने का दावा करते हैं। कुछ स्मृतियों और पुराणों ने स्पष्ट रूप से राजा के देवत्व का दावा स्वीकार लिया गया। मनु कहते हैं कि राजा नर रूप में महान देवता है। विष्णु पुराण और भागवत पुराण में कहा गया है कि राजा के शरीर में अनेक देवता निवास करते हैं। अधिकांश स्मृतियों और पुराणों में केवल राजा और देवताओं के कार्यों की समानता का वर्णन किया गया है। अधिकांश ग्रंथकार राजा और देवताओं के विभिन्न कायों की समानता का उल्लेख करते हैं, परन्तु वे यह नहीं कहते हैं कि राजा स्वयं देवता है। इस प्रकार हिन्दू। ग्रंथकारों ने राजपद को दैवी बताया है न कि किसी राजा (व्यक्ति) को।

राजा के दैवीय रूप की कल्पना प्रत्येक काल में एक जैसी नहीं रही। प्राचीन भारत में श्रृंखलाबद्ध रूप से विभिन्न स्तरों पर राजा के दैवीय रूप की मान्यता का विकास हुआ। सभी स्तरों में राजा को एक उच्च स्तर का मानव माना गया है। जिसका संबंध देवताओं से रहता था। राजा के दैवीय स्वरूप के विभिन्न स्तर इस प्रकार रहेः–

1- voljxr nsoh :i

विभिन्न धार्मिक अनुष्ठानों एवं यज्ञों के समय राजा में दैवीय विशेषतायें आ जाती थीं। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार वाजपेयी यज्ञ के समय राजा इन्द्र देवता बन जाता था। राजसूर्ययज्ञ तथा अश्वमेध यज्ञ के समय भी राजा में दैवीय गुणों का समावेश माना जाता था। ग्रंथों के तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि समय के साथ उन देवताओं की संख्या बढ़ती चली गयी जिनका तेज, यज्ञ आदि संस्कारों के समय राजा को मिल जाता था।

2- dk;kRed nsoh :i

राजा में अवसरगत दैवीय गुणों का प्राधान्य केवल सामयिक एवं अस्थायी होता था। अवसर समाप्त होने पर राजा पुनः सामान्य मानव बन जाता था। अतरू

उसे स्थायी रूप से देवता मानने के लिए एक अन्य सिद्धांत का विकास करना पड़ा। तदनुसार देवताओं के समान कार्य करने वाले राजा को देवता या देवता जैसा ही माना गया। 'मनु स्मृति' एवं 'अग्निपुराण' में कार्यों के आधार पर ही राजा को देवता का पद दिया गया। मत्स्य पुराण एवं नारद स्मृति में राजा की देवताओं के साथ समानता स्थापित की गयी। राजा की शक्ति को कायों के आधार पर पाँच भागों या दिशाओं में बांटा गयाः

1. जब राजा उचित या अनुचित कारणों से जनता को कष्ट पहुँचाता है तो वह अग्नि होता है।
2. जब राजा विजय की आकांक्षा से अपने शत्रु पर आक्रमण करता है तो वह इन्द्र होता है।
3. जब राजा शान्त मन से या प्रसन्न मुद्रा में अपनी प्रजा के सामने आता है तो वह चंद्र होता है।
4. जब राजा न्याय के आसन पर बैठता है तथा सभी को न्याय देने का कार्य करता है तो वह यम होता है।
5. जब राजा आदरणीय व्यक्तियों को, सेवकों को तथा अन्य को भेंट देता है तो वह कुबेर बन जाता है।

रामायण, महाभारत तथा अन्य अनेक ग्रंथों में राजा के इन दैवीय रूपों का वर्णन हुआ है।

3- jktin dk nSoh; :i

कुछ विचारकों की मान्यता थी कि दैवीय विशेषतायें राजा में नहीं है वरन् राजपद में होती हैं। राजा को एक व्यक्ति के रूप में दैवीय अधिकार एवं शक्तियाँ प्राप्त नहीं हैं वरन् राजपद पर रहने के कारण उसे अनेक कर्तव्यों का निर्वाह करना होता है। राजा के दैवीय रूप की मान्यता का अर्थ यह नहीं था कि वह अमर है और उसके आततायी व्यवहार को क्षमा किया जा सकता है। अनुचित कार्य करने वाले अन्यायी राजा को तो भारतीय ग्रंथ राजा मानने को ही तैयार नहीं हैं। प्रो. अल्तेकर के अनुसार – ''हिन्दू लेखकों ने व्यक्ति के रूप में राजा के देवत्व का पक्ष

नहीं लिया वरन् उसके राजपद को दैवीय माना क्योंकि उसके तथा कुछ देवताओं के कार्यों के बीच समानता थी।''

4- ,d=hdj.k }kjk nSoRo

इस विचार के अनुसार राजा ने विभिन्न देवताओं के गुणों को अपने व्यक्तित्व में एकत्रित करके शासन संचालन का दायित्व संभाला और इसलिए वह स्वयं भी दैवीय बन गया। मनु ने माना है कि राजा में आठ देवताओं का समावेश है। उनके रहते उसका कोई भी व्यवहार अपवित्र नहीं हो सकता। मत्स्य पुराण में कार्यात्मक दैवीय रूप को एकत्रीकरण के दैवीय रूप के साथ मिला दिया गया है।[13] प्राचीन भारत में राजा मानते थे कि उनके व्यक्तित्व में अनेक देवताओं का समावेश है। एकत्रीकरण की विचारधारा के अनुसार राजपद को नहीं वरन स्वयं राजा को ही दैवीय माना गया।

5- jkt k b'oj dk çfrfuf/k

राजा को दैवीय मानने से संबंधित एक विचारधारा यह भी है कि उसे ईश्वर ने धर्म की रक्षा तथा शान्ति की व्यवस्था करने के लिए धरती पर भेजा। इस प्रकार वह ईश्वर का प्रतिनिधि है। राजा द्वारा जब दैवीय कार्य किये जाते थे तो स्पष्ट था कि वह देवताओं का प्रतिनिधित्व कर रहा होता था। शतपथ ब्राह्मण में उल्लेख है कि सूर्य, अच्छे और बुरे राजाओं के माध्यम से संसार को प्रकाशित करता है। राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि मानने के विचारों का जितना विकास अन्य देशों में हुआ था, उतना प्राचीन भारत में नहीं हो पाया था। इसका कारण संभवतः यह रहा होगा कि भारत के धार्मिक जीवन में कभी भी एक देवता का प्रभाव नहीं रहा। यह प्रभावशीलता तथा देवताओं की संख्या समय–समय पर बदलती रही।

6- nSoh; o'k t

इस विचारधारा के अनुसार राजा को देवता या देवताओं का पुत्र माना जाता था। वैदिक काल में इस विचारधारा का प्रभाव नहीं था। वैदिक काल के राजसूर्य यज्ञों में राजा के माता व पिता किसी मनुष्य को ही बनाया जाता था। कालान्तर में

राजा को जब अन्य कारणों से दैवीय बताया गया तो उसने अपने को ईश्वर की संतान कहना प्रारंभ किया।

nSoRo dh 0;kidrk

प्रांरभ में तो राजा के दैवीय रूप का प्रभाव अत्यंत सीमित था, केवल उचित एवं न्यायपूर्ण व्यवहार करने वाले राजा को ही ईश्वर कहा जाता था, जबकि अन्यायी राजा की हत्या करने की छूट थी। कालान्तर में राजा के देवत्व का यह क्षेत्र व्यापक हो गया। नारद स्मृति में कहा गया है कि ''जो कुछ भी राजा करता है वह ठीक ही करता है, वह समस्त प्राणियों के प्रति कृपा भाव रखता है। जिस प्रकार एक दुर्बल, रोगी, क्षीणकाय पति की उसकी पत्नि द्वारा लगातार पूजा की जाती है उसी प्रकार बेकार होने पर भी राजा को उसकी प्रजा द्वारा निरंतर पूजा जाना चाहिए।''

jkt dh nSoh; mikf/k;k

प्राचीन भारत में राजा की जी उपाधियाँ तथ संज्ञायें प्रदान की जाती थीं उनसे यह स्पष्ट होता है कि राजा के देवत्व में उस समय कितना विश्वास था। राजा के लिए 'भूदेव', 'नरेन्द्र', 'क्षितिदेव', 'नृदेव' आदि उपाधियाँ दी गई जिससे प्रकट होता है कि प्राचीन भारत में राजा के दैवीय स्वरूप को कितना मान्य किया गया था। कुषाण राजाओं ने अपने आपको महाराज, राजाधिराज, देवपुत्र आदि उपाधियों से संबोधित कराया। अशोक के शिलालेखों में उसे 'देवनाम प्रिय प्रियदर्शो राजाश कहा गया है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में देवत्व की धारणा का प्रयोग साधारणतः रूपक के रूप में किया गया है। केवल वही राजा जो अपने कर्तव्यों का निवाह करता था वही दैवीय पद का दावा कर सकता था।

jkt dh 'kfä;k vkj dk;

प्राचीन भारत में राजा की शक्तियाँ एक अर्थ में पूर्ण थीं। राजा कार्यपालिका का अध्यक्ष होता था और उसके हाथ में वास्तविक शक्तियाँ रहती थीं। उसे कानून बनाने की भी शक्ति प्राप्त थी और वह न्याय का सर्वोच्च अधिकारी होता था। प्राचीन भारतीय विचारकों ने राजा के कर्तव्यों तथा दायित्वों पर अधिक बल दिया है। राजा के कर्तव्य वैयक्तिक और सार्वजनिक दोनों प्रकार के थे। वैयक्तिक कर्तव्यों में

आत्मनियंत्रण, उसका स्वयं के प्रति आचरण, स्वयं की सुरक्षा का ध्यान रखना, अपने परिवार के सदस्यों के प्रति आचरण आदि सम्मिलित थे। सार्वजनिक कर्तव्य प्रजा के सुख व कल्याण में निहित थे।[15] उनके मुख्य कर्तव्यों अथवा कार्यों का विवेचन निम्नलिखित हैः–

çtk dh j{kk

राजा के सभी कर्तव्यों में यह सर्वप्रथम था। प्रजा की रक्षा के लिए राजा को दुष्टों का दमन करना पड़ता था, अपराधियों को दण्ड देना होता था और बाह्य शत्रुओं से रक्षा करने के लिए सेना रखनी पड़ती थी तथा युद्ध के लिए तैयार रहना पड़ता था। प्रजा–रक्षण का इतना अधिक महत्व था कि जो राजा अपनी प्रजा के जीवन व सम्पत्ति की रक्षा करने में असफल रहते थे उन्हें राजपद के लिए अयोग्य समझा गया था।

महाभारत में कहा गया है –

राजैव कर्त्ता भूतानां राजैव च विनाशकः।

धर्मात्मा यः स कत्तां स्यादधमात्मा विनायकः।।

अर्थात् 'राजा ही प्राणियों का रक्षक होता और वही विनाशक होता है। जो धर्मात्मा होता है, वह रक्षक है और जो अधर्मात्मा होता है, वह विनाशक है।'

çtk ikyu

प्रजा की रक्षा का अर्थ केवल कानून और व्यवस्था बनाये रखना अथवा जनता के जीवन व सम्पति की शत्रुओं से रक्षा करना ही नहीं था, वरन राजा को प्रजा के नैतिक व भौतिक कल्याण के लिए सभी कार्य करने होते थे। वैदिककाल से ही राजा प्रजा व धर्म का रक्षक, पोषक और समर्थक माना जाता था। अतः राजा को चारों वणों के व्यक्तियों से धर्म का पालन कराना होता था। उसके लिए यह आवश्यक था कि वह सभी व्यक्तियों को पुरुषार्थों धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति में सहायता दे। वैदिक साहित्य तथा महाकाव्यों के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि राजा आर्थिक क्षेत्र में भी प्रजा के सुख व समृद्धि के लिए विभिन्न कार्य करता था। संकट काल में पीड़ित जनता के दुख–दारिद्रय को दूर करने के लिए वह सभी

प्रकार के प्रयत्न करता था। अशक्त, बूढ़ों, विधवाओं और अवयस्कों के लिए भोजन व विशेष रक्षा भी उसके कार्य थे। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में राजा (अथवा राज्य) के अनेक आर्थिक कायों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। इनके अतिरिक्त राजा प्रजा की शिक्षा और कलाओं के विकास को प्रोत्साहन देता था। महाभारत में कहा गया है कि जिस राजा का राष्ट्र प्रसन्न, सम्पन्न और राजभक्त होता है, उसकी जड़ मजबूत रहती है। जिसके सैनिक भली–भाँति सन्तुष्ट, वशीभूत और आज्ञापालन में तत्पर होते हैं, वह राजा छोटी सेना से छोटी से ही पृथ्वी को जीत लेता है।

राजा के कर्तव्यों का अध्ययन मनु और कौटिल्य के आधार पर अग्रलिखित शीर्षकों के अन्तगत किया जा सकता है[17]–

dk;Zikfydk lEcU/kh

मनु के अनुसार यह सबसे महत्वपूर्ण कर्तव्य था क्योंकि इसके बिना अन्य कर्तव्य पूरे नहीं हो सकते थे। कौटिल्य के अनुसार भी रक्षा करना राजा का सर्वप्रथम कर्तव्य था। इसके साथ ही शासन और प्रजा की भलाई के लिए अन्य कार्य भी सम्मिलित थे। राजा का यह भी कर्तव्य थे कि राष्ट्रीय आपातों के विरूद्ध जनता की रक्षा की जाये, डाकुओं और अपराधियों से जनता की रक्षा करने के कर्तव्य पर भी कौटिल्य ने बल दिया है।

U;k; lEcU/kh

राजा न्याय का प्रमुख आधार माना गया था। मनुस्मृति में राजा के न्यायिक कार्यों तथा न्याय–व्यवस्था का विस्तृत वर्णन किया गया है। राजा सर्वोच्च न्यायाधीश था। कौटिल्य के अनुसार भी राजा न्यायापलिका का अध्यक्ष था, परन्तु कानून को स्त्रोत नहीं था। मनुस्मृति तथा अन्य धर्मशास्त्रों के अनुसार कानूनों का स्त्रोत धर्मशास्त्र थे, अतः राजा को कानून बनाने की शक्ति प्राप्त नहीं थी। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में राजा को कानून बनाने की शक्ति प्रदान की है।

ç'kklu lEcU/kh

प्रशासन सम्बन्धी कायों के अंतर्गत दो प्रकार के कर्तव्य सम्मिलित थे– नियुक्तियाँ और प्रशासन कार्यों का संचालन। मनु के अनुसार राजा मंत्रियों और अन्य

उच्च अधिकारियों को नियुक्त करता था। जहाँ तक प्रशासनिक समस्याओं का सम्बन्ध है। राजा सम्पति, भूमि में गड़े खजाने, नाप और तौल आदि के सम्बन्ध में समुचित व्यवस्था करता था। कौटिल्य के अनुसार राजा मंत्रियों को नियुक्त करता था और उन पर नियंत्रण रखता था। राजा के दैनिक कार्यक्रम से पता लगता है कि सरकार की गतिविधियों के क्षेत्र में राजा विभिन्न प्रकार के कार्य करता था।

/ke: lEcU/kh

धर्म का पालन करना तथा धर्म के अनुसार प्रजा को चलने के लिये बाध्य करना राजा का परम कर्तव्य माना गया है। मनु, कौटिल्य, शुक्र, कामन्दक, महाभारत आदि सभी वर्णाश्रम धर्म व्यवस्था की रक्षा को राजा का प्रमुख कर्तव्य मानते हैं। पुरोहितों के मार्गदर्शन में राजा राज्य व प्रजा कल्याण के लिए धार्मिक अनुष्ठानों को सम्पन्न करता था।

मनु और कौटिल्य के अनुसार राजा पुरोहित और अन्य बालकों को नियुक्त करता था। उसे विभिन्न प्रकार के यज्ञ और अनुष्ठान आदि कार्य करने होते थे। कौटिल्य ने पुरोहित के लिए आवश्यक योग्यताओं का भी वर्णन किया है।

भूमिकर सम्बन्धी

मनु के अनुसार इनमें भू–राजस्व करों की दर नियत करना सम्मिलित था। राज्य करों की। वसूली विश्वस्त अधिकारियों द्वारा होती है। कौटिल्य के अनुसार इस क्षेत्र में राजा की शक्तियाँ अंतिम तथा विस्तृत थीं। यह देखना उसका कर्तव्य था कि कोष खाली न रहे वह प्रतिदिन आय और व्यय ब्यौरे को देखता था और वही इस विभाग के उच्च अधिकारियों को नियुक्त करता था।

vU; dk;:

मनु के अनुसार राजा विद्या और संस्कृति को प्रोत्साहन देता था। कौटिल्य के अनुसार राजा विद्वानों व योगियों का संरक्षण करता था। वह राजधानी में अस्पताल आदि स्थापित करता था। राजकुमारों के प्रति कर्तव्य, मन्दिरों, स्त्रियों, पशुओं तीर्थ स्थानों, निःसहाय व्यक्तियों आदि के सम्बन्धित मामलों में वैयक्तिक रूप से ध्यान देना।

fu"d"k

प्राचीन भारत में राजा के दो मुख्य कर्तव्य थे– प्रजा की रक्षा और प्रजा पालन। प्रजा का रंजन (प्रजा को सुखी बनाना) राजा का सबसे महत्वपूर्ण कर्तव्य था। विष्णु संहिता में कहा गया है कि, ''प्रजा के सुख से राजा सुखी होता है और प्रजा के दुःख से वह दुरूखी होता है, ऐसा राजा इस लोक में यश पाता है पर परलोक में स्वर्ग।'' यही बात कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में कही है– प्रजा के सुख में राजा का सुख है और प्रजा के दुःख में राजा का दुख है। राजा को अपने हित की बात नहीं सोचनी चाहिए। प्रजा के हित मे ही उसका हित है। राजा स्वयं धर्म का पालन करता था और प्रजा के सभी वर्गों (वणों) से उनके धर्म का पालन कराता था। राजा प्रजा के भौतिक सुखों की वृद्धि के साथ–साथ उसके नैतिक और आध्यात्मिक विकास के लिए सभी प्रकार के उचित प्रयत्न करता था।

महाभारत में कहा गया है कि–

यदा हि गर्भिणी हित्वा स्वं पिंय मानसोनुऽगम्।

गर्भस्य हितमाधत्ते तथा राज्ञाप्यसंप्रायम।।

अर्थात राजा को उस माता के सामान बताया है जो पेट में बालक को पालती है उस माता की भाँति राजा भी अपनी प्रजा का ध्यान रखता है।[18]

jktk dh fLFkfr

राजा की शक्तियाँ विभिन्न प्रकार की थीं और वह अनेक प्रकार के कार्य करता था। उसकी शक्तियों पर कोई कानूनी सीमाएं व प्रतिबन्ध न थे। परन्तु प्राचीन भारत में राजा निरंकुश तथा स्वेच्छाचारी नहीं होता था। ऋग्वेद में कहा गया है कि 'राजा प्रजा का योग्य रीति का पालन करे किसी की भूखा न रखे, ज्ञान को बढ़ावे, राज्य शासन रूपी यज्ञ का सुचारू रूप से निर्वाह करे, दुष्टों का नाश करें, अपने राज्य के ज्ञानी, शूरवीर, धनिक व कर्मकार व्यक्तियों के कष्टों के दूर करने में प्रयत्न करे और इस प्रकार राज्य शासन करे कि सब प्रजानन का प्रिय बने। समस्त जनता का हित करने वाला नेता राजा अग्नि है। जो जनता को दुख से बचाता है तथा उसे सन्मार्ग पर चलाता है और सबको उन्नति के मार्ग पर ले जाता है।'[19]

jktk dh fujdq'krk ij izfrcU/k

प्राचीन भारत में जो राजतंत्र सैन्द्धांतिक एवं व्यवहारिक रूप से स्थापित था, उसके स्वेच्छाचारी बनने के पर्याप्त अवसर विद्यमान थे। राजतंत्र एक व्यक्ति का शासन था, जिसे वंशपरम्परागत आधार। पर राजा बनाया जाता था। राजा के विरोध को प्रत्येक दृष्टि से अनुचित माना गया था। स्वभावतः इन परिस्थितियों का लाभ उठा कर, एक महत्वाकांक्षी राजा, अपने वैयक्तिक स्वार्थ की पूर्ति के लिए राज्य की शक्ति का दुरूपयोग कर सकता था। राजतंत्र के इस स्वरूप पर नियंत्रण रखने के लिए प्राचीन भारतीय राजनीति के आचार्यों ने ऐसे विभिन्न प्रतिबंधों की व्यवस्था की जी राजा को स्वेच्छाचारी बनने से रोक सकें और शासन को वैयक्तिक स्वार्थ की पूर्ति का साधन बनने से रोककर जन कल्याण की ओर उन्मुख कर सकें।

मानव स्वभाव में निहित कमजोरियों को ध्यान में रखकर भारतीय आचायों ने, राज शक्ति पर अनेक प्रतिबंध लगाये। वैदिक युग में राजा की शक्ति, समिति द्वारा प्रतिबंधित की गयी थी।। कालान्तर में जब धीरे–धीरे समिति की शक्तियाँ क्षीण हो गयीं तो राजा की स्वेच्छाचारिता के अवसर बढ़ गये। सर्वोच्च अधिकारी के रूप में उस पर इस बात के प्रति कोई अंकुश नहीं रहा कि वह मनमाने ढंग से किसी भी व्यक्ति को दण्डित कर दे। राजा की शक्ति के दुरूपयोग पर अमात्यमंडल द्वारा नियंत्रण रखा जा सकता था, लेकिन अमात्यमंडल राजा की शक्ति को प्रतिबंधित करने में असमर्थ रहा था। ऐसी कोई प्रतिनिधि सभा नहीं थी जो राजा के कार्यो पर नियंत्रण लगा सके। इस प्रकार परिस्थितियाँ ऐसी थी कि जिनमें राजतंत्र दुराचारी आचरण अपना सकता था परन्तु सामान्यतः भारतीय राजा इस प्रकार के व्यवहार से बचे रहे, और उन पर जो भी प्रतिबंध लगाये गये, उनका आदर करने की चेष्टा की। इन प्रतिबंधों का विवरण इस प्रकार से है[20]:–

1- èkkfeZd çfrcU/k

प्राचीन भारत में मानव जीवन का प्रत्येक पक्ष धर्म से ओत–प्रोत था और राजनीति भी धर्म पर आधारित थी। सामाजिक मूल्य कुछ इस प्रकार के थे कि उनके स्तर, धर्म के आधार पर ही निश्चित किये जाते थे। धार्मिक एवं परलौकिक दण्डों का बड़ा भय था। अच्छे और बुरे कर्मों के आधार स्वर्ग और नरक की मान्यता

विशेष रूप से प्रचलित थी। धार्मिक भावनाओं के अनुरूप राजा पर यह प्रतिबंध था कि वह प्रजा को कष्ट न दे और प्रजा के दुरूपयोग न करें। यह कहा गया था कि प्रजापीड़क राजा पाप का भागी है, वह नरक के दारूण दुख भोगेगा। प्रजा में इस प्रकार की भावना विद्यमान थी। स्वाभाविक था कि कोई राजा इस धार्मिक भावनाओं का अनादर करके प्रजा को अपने विरोध के लिए आमंत्रित करने से, यथासंभव बचता था।

2- lkekftd ijEijk,¡

यद्यपि राजा का पद दैवीय माना गया था। राजा को सामान्य व्यक्ति से उच्च तथा मानवेत्तर रूप दिया गया था, तथापि सामाजिक परम्पराओं से वह अप्रभावित नहीं रह सकता था। सामाजिक परम्पराओं का आदर न करने पर उसकी निदा होती थी। राजा से यह आशा की जाती थी कि वह इन परम्पराओं का स्वयं पालन करेगा तथा प्रजा से भी इनका पालन करायेगा। राज्याभिषेक के समय राजा को सामाजिक परम्पराओं के निवांह करने संबंधी प्रतिज्ञा करनी होती थी। सामाजिक परम्पराओं में राजा द्वारा परिवर्तन नहीं किये जा सकते थे।

3- f'k{kk ,oa lLdkj dk mPp ekin.M

प्राचीन भारत का सामाजिक एवं शैक्षणिक परिवेश बहुत ऊँचा था। केवल यही पर्याप्त नहीं था कि राजा का पुत्र राजा और बने वरन् यह भी अनिवार्य था कि राजा और राजपरिवार शिक्षा तथा संस्कार की दृष्टि से अनुकरणीय हो। यह मान्यता थी कि यदि राजा अथवा राजपुत्र उचित शिक्षा और संस्कार सम्पन्न नहीं हैं तो वे निरंकुश के मार्ग पर बढ़ेगें। अतः बचपन में ही राजकुमारों में शिक्षा और अच्छे संस्कारों का बीजारोपण कर दिया जाता था। उच्च शैक्षणिक स्तरों और संस्कार द्वारा राजकुमारों को अपने दायित्व का निर्वाह करने योग्य बनाया जाता था। वास्तव में शिक्षा एवं संस्कार राजा की स्वेच्छाचारिता पर अपरोक्ष प्रतिबंध का कार्य करते थे।

4- çtk dk fojks/k

सब प्रतिबंधों की अवहेलना करते हुए लोकमत का पूर्ण निरादर करने वाले राजा के विरूध्द्र प्रजा के विरोध की व्यवस्था की गयी। इस संबंध में कोई विस्तृत

व्यवस्थायें नहीं की गयी और ना ही विशेष रूप से कुछ लिखा गया क्योंकि भारतीय शास्त्रकार प्रजा के राज्य विरोधी और अराजक प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन नहीं देना चाहते थे। अत्याचारी राजा का विरोध कई प्रकार से किया जा सकता था। प्रजा राजा को चेतावनी दे सकती थी कि यदि उसने अपने आचरण में अपेक्षित सुधार नहीं किया तो वह राजा का परित्याग कर अन्यत्र चली जायेगी। राज्य के परित्याग की धमकी उस युग में बहुत प्रभावशाली थी इससे राज्य की प्रतिष्ठा, शक्ति तथा आर्थिक सम्पन्नता का भारी क्षय होता था। प्रजा। हित के प्रतिकूल आचरण करने वाले राजा की गद्दी से उतार देने की व्यवस्था भी प्राचीन भारतीय शास्त्रकारों ने की थी। शुक्रनीति में निर्देश है कि इस प्रकार के राजा की गद्दी से उतारकर उसके कुल के किसी गुणवान व्यक्ति को राजा बना देना चाहिए। महाभारत में तो अत्याचारी एवं निरंकुश राजा का वध कर दिये जाने तक का उल्लेख है। राजा वेण के अत्याचारों के कारण प्रजा द्वारा उसकी हत्या इसका उदाहरण है। मनु ने व्यवस्था की है कि राजा यद्यपि दैवीय है किन्तु उसके अत्याचारी बन जाने पर शक्ति द्वारा उसकी हत्या बैध है।

5- lkeUrk ,oa ljnkjk dk çfrcèk

राज्य के प्रभावशाली सामन्तों और सरदारों के परामर्श या उनकी इच्छा की निरन्तर अवहेलना, किसी भी राजा के लिए संकट को आमंत्रित करता था। राजा को कोई भी निर्णय लेते समय, अपने प्रभावशाली सामन्तों की राय को समुचित महत्व देना पड़ता था। यद्यपि राजा उनकी राय मानने के लिए बाध्य नहीं था, तथापि उसके प्रतिरोध का भय उसे विवश करता था कि वह उनकी इच्छा का आदर करे। इन सामन्तों और सरदारों के पास शक्तिशाली सैनिक टुकड़ियाँ होती थीं जो संकटकाल में राज्य की सहायता करती थीं और एक अत्याचारी राजा के विरूद्ध शस्त्र भी उठा सकती थीं। राजा को भय रहता था कि निरंकुश आचरण करने पर उसे प्रजा और सामन्तों के संयुक्त विरोध का सामना करना पड़ेगा। मंत्री, सेनापति आदि भी राजाओं के विरूद्ध षडयंत्र रच सकते थे। इन संभावित विरोधों के भय से राजा पूर्ण स्वेच्छाचारी आचरण करने से प्रायः बचने की चेष्टा करता था।

6- ifrfuf/k & lHkk dk ifrc/k

प्राचीन भारत में छोटे–छोटे राज्यों में समितियों और सभायें भी राजा की स्वेचछाचारिता पर काफी नियंत्रण रखती थीं। अर्थववेद में राजा का सबसे बड़ा संकट माना गया था जब समिति से उसका विरोध हो जाता था। राज्यों का आकार बड़ा हो जाने पर क्रमशः इस प्रकार की संस्थाओं का नियंत्रण कम प्रभावशील होता गया।

प्राचीन भारत में राजा के पद (राजपद) उसके महत्व, उत्पत्ति, योग्यताओं, देवत्व की अवधारणा, कार्य एवं उसकी स्वेच्छाचारिता पर लगाये गये प्रतिबन्धों का अध्ययन स्पष्ट करता है कि राजपद, उत्पत्ति काल से ही महत्वपूर्ण माना गया था।

e=h ifj"kn

प्राचीन भारत में मुख्यतः राजतंत्रात्मक व्यवस्था थी परन्तु राजा निरंकुश नहीं होता था उसे। परामर्श देने के लिए एक मंत्रिपरिषद् होती थी। सभी राज शास्त्रियों ने राजा के लिए मंत्रणा पर जोर दिया है। मनुस्मृति में उस राजा को मूर्ख की संज्ञा दी गई थी जो बिना मंत्रियों के सलाह के कार्य करता था। 'राजकृत राजन' वैदिककाल में भी उसकी सहायता के लिये नियुक्त किये जाते थे। अथर्ववेद में कहा गया है कि राष्ट्र की स्थिरता एवं उन्नति हेतु यह आवश्यक है कि इसका शासन ज्ञानीजन के परामर्श पर ही चले। कालान्तर में राजा के अधिकार एवं कर्तव्य उत्तरोतर बढ़ते चले गए इनके साथ ही मंत्रियों का भी महत्व बढ़ता चला गया। प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचारकों ने मंत्रिपरिषद् को राज्य का एक आवश्यक अंग माना है। कौटिल्यकृत अर्थशास्त्र में कहा गया है कि सक्षम सभासदों के सहारे ही राजा सफल हो सकता है। प्रो. अल्तेकर के अनुसार 'सुशासन के लिए मंत्रियों का होना इतना आवश्यक था कि युवराज ओर प्रांतों के शासक भी मंत्रिपरिषद् नियुक्त करते थे। मौर्य, श्रृंग तथा गुप्त काल के प्रांतों के शासकों की मंत्रिपरिषद् थीं।[21] शुक्रनीति के अनुसार बुद्धिमान राजा को अधिकारियों अथवा मंत्रियों की परिषद् के मत का पालन करना चाहिये।[22]

वैदिक युगीन राजा के कार्य व शक्ति उतनी विस्तृत नहीं थी। जितनी की बाद में मौर्यों अथवा गुप्तों के काल में हो गयी थीं। मनुस्मृति में स्पष्ट उल्लेख है कि ''एक व्यक्ति के लिए सरल कार्य करना भी कठिन होता है और राज्य की उत्पति तो बिना सहायकों के हो ही नहीं सकती है।''

देवताओं के गुरू वृहस्पति का कथन है कि ''जो राजा अपने पुरोहित के वचनों का उल्लंघन करता है वह दुर्योधन के समान होता है तथा अत्यन्त शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। राजा कभी भी मंत्रियों की राय के बिना उचित कार्य नहीं कर सकता।'' शुक्र का कथन है कि ''जो राजा मंत्रियों से। परामर्श किए बिना कार्य करता है, उसका कार्य पूरी तरह निष्फल हो जाता है, अर्थात जो राजा मंत्रियों का परामर्श नहीं मानता वह गद्दी पर बहुत दिन तक नहीं ठहर पाता।''

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में स्पष्ट कथन है कि 'राज्य, एक रथ है इस रथ में मंत्री और राजा रूपी दो पहिये लगे रहते हैं। रथ को चलाने के लिए आवश्यक है कि दोनों पहिये सुगमतापूर्वक अपने स्थान पर कार्य करें। जिस प्रकार एक पहिये के रथ नहीं चल सकता उसी प्रकार वगैर मंत्री के राज्य नहीं चल सकता है।'' राज्य चलाने के लिए मंत्री और राजा की बरावर आवश्यकता होती है। कौटिल्य ने कहा कि इन्द्र को सहस्त्र नेत्रों वाला कहा गया है। क्योंकि उसके मंत्रिपरिषद् में एक हजार परामर्श दाता विद्वान थे। कौटिल्य ने मंत्रिपरिषद् को शासन का एकमात्र स्तम्भ बताया है।[23]

महाभारत में कहा गया है कि ''नृप के राष्ट्र की उन्नति, मंत्रियों के मंत्र पर निर्भर करती है।'' डॉ. के. पी. जायसवाल ने कहा है कि 'राजा को राज्य के सभी कार्य मंत्रियों की राय लिये वगैर नहीं करना चाहिए। अगर कोई कार्य नीति संगत है। फिर भी राजा को मंत्रियों की सलाह लेना आवश्यक है।''[24] रामायण, महाभारत व मौर्य काल, गुप्तकाल में मंत्रिपरिषद् एक अनिवार्य संस्था थी। जो, प्रशासन के संचालन में राजा की सहायता करती थी। इन कालों में मंत्रिपरिषद् का अत्याधिक महत्व था। इसके वगैर राज्य का संचालन असंभव था। प्रायः सभी विद्वानों द्वारा यह स्वीकार किया गया है कि मंत्री अथवा मंत्रिपरिषद् शासन का अत्यंत महत्व अंग था।

ef=ifj"kn~ d{k lnL;ksa dh l[;k

महाभारत के शान्ति पर्व में 37 मंत्रियों का वर्णन किया गया है, जिनमें 4 ब्राह्मण, 21 वैश्य, 8 क्षत्रीय, 3 शूद्र, एक सूत का वर्णन है। वास्तविक मंत्रिपरिषद् में 8 मंत्री ही थे। मंत्रिपरिषद् के सदस्यों की संख्या उस राज्य की आवश्यकता पर आधारित थी। शुक्रनीति में दस मंत्रियों का उल्लेख। मंत्रिपरिषद् में मिलता है। मनु, महाभारत और वृहस्पति के अनुसार मंत्रियों की संख्या क्रमशः आठ, बारह, सोलह होनी चाहिए। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में मंत्रियों की संख्या क्रमशः 12, 16, 20 है। परन्तु कौटिल्य का मत है। कि राजा को मंत्रियों की यह संख्या आवश्यकता के अनुसार घटानी एवं बढ़ानी चाहिए। मौर्यकाल के आने तक जबकि राजा के उत्तरदायित्व अत्यन्त विस्तृत हो गए थे। राजा के लिए पांच मंत्रियों का रखना पर्याप्त समझा जाता था। इस समय राजा की शासन व्यवस्था मंत्रियों के बिना अधूरी समझी जाती है। अधिकांश विद्वानों ने मंत्रियों की संख्या 8, 10, 12, 16 का अधिक समर्थन किया है। प्राचीन भारत में लगभग सभी राजा आवश्यकतानुसार अपने राज्य में मंत्रियों की संख्या निश्चित करता होगा। यह अधिकांश विद्वानों की मान्यता है।

मंत्रियों की संख्या के सम्बन्ध में कोई सामान्य सिद्धांत प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। राज्य के आकार, प्रकृति एवं कार्यों के आधार पर उनकी संख्या निश्चित की जाती थी। मनु और कौटिल्य ने राज्य की आवश्यकतानुसार मंत्रियों की संख्या निश्चित करने पर जोर दिया।

ef=;ksa dh ;ksX;rk,a

मंत्री, राजा की आंख, कान, हाथ व पैर होते थे। भारतीय आचार्यों ने उनकी योग्यता का विशेष उल्लेख किया है। मनु के अनुसार मंत्रियों में विविध ज्ञान व योग्यताओं का मिश्रण होना चाहिए। उनका शारीरिक मानसिक, चारित्रिक, बौद्धिक व आत्मिक स्तर ऊँचा होना चाहिये तथा मंत्री पद पर नियुक्ति से पूर्व परीक्षा की जानी चाहिए। मंत्रियों को व्यवहारिक, क्रियाशील व दृढ़ विचारों वाला होना चाहिए। उनमें रक्त व वातावरण की पवित्रता होनी चाहिए। ऋग्वेद में कहा गया है कि ''जो समस्त प्राणियों पर प्रभाव डाल सके तथा पद के सर्वथा उपयुक्त हो, उसे ही मंत्री

पद पर रखा जाना चाहिए।'' महाभारत के अनुसार ''जो काम, क्रोध, मद, लोभ के वशीभूत न हो, निज धर्म का परित्याग नहीं करते, जो सभी कार्यों में दक्ष हैं। जो कुलीन, उत्तम स्वभाव से युक्त, क्षमावान, मेधावी, विद्वान, विवेक में निपुण, सच्चे हितैषी राज्य के मूल निवासी हों मंत्री बनाये जाने के योग्य होते हैं।''[25]

कौटिल्य का मत है कि ''वह स्वदेशी, कुलीन, बुद्धिमान, वाक्पटु, उत्साही, प्रभावशाली, दृढ़ राजभक्त, शील, बल व आरोग्य युक्त, धैर्यशाली, सौम्य, पवित्र हृदय, सहिष्णु, पूर्णता धार्मिक, निलोंभी संयमी एवं निभोंक होना चाहिए।''[26] उन्होंने ने मंत्रियों की योग्यता में बताया गया है कि उसे राज्य का मूल निवासी होना चाहिए। क्येांकि जो उसी मातृभूमि में जन्मा हो वह व्यक्ति उसके प्रति अधिक भक्ति रखता है। दूसरा उसे कुलीन होना चाहिए। तीसरा अस्त्र–शस्त्र का ज्ञान, व्यवहार कुशल, वेदों का ज्ञान होना चाहिए।

कौटिल्य ने अपने ग्रंथ अर्थशास्त्र में राज्य के उच्चाधिकारियों के लिए विशेष परीक्षाओं का वर्णन बलताया है। वे ही मंत्री पद पर होंगे, जो परीक्षा में उत्तीर्ण होगे।

कौटिल्य ने चार परीक्षाएं बताई हैं। जो इस प्रकार हैं :–

1. धर्मोपधा 2. अथोंपधा 3. कामोपधा 4. भयोपधा

1. धर्मोपधा – धर्म के द्वारा मंत्रि के हृदय की परीक्षा लेना।

2. अथोंपधा – धन का लोभ देकर व्यक्ति की परीक्षा लेना।

3. कामोपधा – स्त्री समागम द्वारा व्यक्ति की परीक्षा लेना।

4. भयोपधा – गुप्त उपायों भय आदि दिखाकर परीक्षा लेना।

प्रथम में पास होने पर व्यवस्थापक, विवाद लिखने अथवा व्यवसाय का काम दिया जाना चाहिए।

द्वितीय में पास होने पर वसूली या कोष का कार्य दिया जाना चाहिए।

तृतीय में पास होने पर रनिवास सुरक्षा का काम दिया जाना चाहिए।

चतुर्थ में पास होने पर राजा के अंगरक्षक का काम दिया जाना चाहिए।

3- eaf=;ksa dh lgk;d

शुक्र ने कहा है कि ''प्रत्येक मंत्री के दो सहायक होने चाहिए। यदि विभाग का कार्य अधिक हो तो संख्या बढ़ाई जा सकती है। छोटा विभाग होता है तो बिना सहायक या वगैर सचिव के काम चलाया जा सकता है। अपनी क्षमताओं व उपलब्धियों के आधार पर कालान्तर में सचिव के मंत्रि पद पर पदोन्नत कर दिया जाता था।''

4- eaf=;ksa dh in ij o'kkuqxr vf/kdkj

विद्वानों के अनुसार मंत्रालय में नई नियुक्तियों के समय, मंत्री के पुत्र या रिश्तेदारों को प्राथमिकता दी जाती थी। यदि किसी मंत्री का पुत्र अयोग्य होता तो उसे वह पद नहीं दिया जाता था। जबकि निम्न पद पर रखा जाता था, या उसे कोई भी पद भी नहीं दिया जाता था।

5- eaf=;ksa dk osru

कौटिल्य ने बताया कि राज्य के सभी वैतनिक अधिकारियों में मंत्रियों का वेतन अधिक होना चाहिए। कौटिल्य ने मंत्रियों का वेतन 48,000 पण दिये जाने का उल्लेख अपने ग्रंथ अर्थशास्त्र में किया है। यह वेतन दर वार्षिक है अथवा मासिक यह उलझा प्रश्न है। विभिन्न विद्वान दोनों रूपों में स्वीकार करते हैं। कुछ मासिक मानते हैं। कुछ वार्षिक मानते हैं। अधिकांश इसे वार्षिक मानते हैं। वित विभाग के मंत्री को 24,000 अन्य मंत्रियों को 15,000 पण वेतन की बात शुक्रनीति में कही गई है।

उच्च अधिकारियों को अधिक वेतन देना चाहिए। क्योंकि वह मंत्री कम वेतन देने पर भ्रष्टाचार द्वारा अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए धन कमाएगा। इसलिए अर्थशास्त्र में कहा है कि मंत्रियों को अधिक वेतन देना चाहिए।

eaf=ifj"kn dk lxBu

मंत्रीगण शासन व्यवस्था के आधार स्तम्भ होते थे इस कारण मंत्रिपरिषद् के इस स्वरूप में संगठित किया जाता था ताकि प्रशासन का संचालन समुचित रूप से किया जा सके। मंत्री परिषद् को कार्यों के आधार पर विभिन्न विभागों में विभाजित

किया जाता था। विभिन्न दायित्वों को सौंपते समय सम्बन्धित व्यक्ति की योग्यता पर पर्याप्त ध्यान दिया जाता था। मंत्रिपरिषद् के संगठन में एक योग्य व्यक्ति को प्रधानमंत्री नियुक्त किया जाता था। उसका राजा के साथ सम्पर्क घनिष्ठ रूप से होता था उसे राजा को परामर्श देने का अधिकार होता था।

कौटिल्य के अनुसार मंत्रिपरिषद के संगठन के प्रमुख चार अंग माने गए हैं। जो इस प्रकार है :–

1. मंत्रधर 2. विभाग के मंत्री 3. बिना विभाग के मंत्री 4. गणमान्य नागरिक

1- e=èkj

यह सभी मंत्रियों में प्रमुख मंत्री होता था। जो सभी विभागों पर नियंत्रण रखता था। यह राजा का प्रमुख परामर्शदाता होता था।

2- foHkkx d e=h

इन मंत्रियों में राज्य के सभी विभागों के मंत्री आ जाते थे। यह राजा के सलाहकार होते थे। राजा इसके बगैर परामर्श के कोई कार्य नहीं करता था।

3- fcuk foHkkx d e=h

इनमें वह व्यक्ति आते थे। जो विभाग के न होते हुए भी राज्य के प्रमुख होते थे जैसे युवराज, और अन्य राज परिवार के लोग थे।

4- x.kekU; ukxfjd

इनमें राज्य के सभी नगरों व ग्रामों के प्रमुख गणमान्य नागरिक आते थे। जो समय–समय पर राजा के यहाँ आते थे।

ef=ifj"kn d dk;

वैदिक काल में मंत्रिपरिषद् का कार्य सभी प्रकार की नीति तथा विधि निर्माण पर विचार कर राजा को परामर्श देना था। ग्रंथों में विद्वानों ने मंत्रिपरिषद् के कार्यों पर प्रकाश डाला है। शुक्रनीति में मंत्रिपरिषद के कार्यों के महत्व का वर्णन मिलता है। शुक्रनीति के अनुसार यदि राज्य, जनता, सेना, कोष और उचित राजतंत्र (सुनृपत्व) की वृद्धि न हो और मंत्रियों की नीतियों के द्वारा शत्रु का नाश हो तो

उनके होने का लाभ ही क्या है ? अर्थात मंत्रिपरिषद राज्य और प्रजा की प्रभावित करने वाले उन सभी मामलों के लिए उत्तरदायी थीं, जिसका सम्बन्ध शास्त्रों, वित, सुशासन और शत्रुओं के नाश से हो। 'सुनृपत्व' अर्थात राजा पर नियंत्रण के लिए मंत्रियों का होना आवश्यक है। मंत्री राजा और राज्य दोनों के उत्तरदायित्व का भार वहन करता है।[27]

प्राचीन भारत में प्रशासन के अनेक विभाग थे। किन्तु विभागीय पद्धति का स्पष्ट उल्लेख शुक्र नीति में पहली बार मिलता है। शुक्रनीति में मंत्रिपरिषद् के 10 मंत्रियों और उनके विभागों के कार्यों का उल्लेख इस प्रकार किया है :–

1. पुरोहित (धार्मिक कृत करने वाला)
2. प्रतिनिधि (युवराज)
3. प्रधान (प्रमुख मंत्री)
4. सचिव (सेनापति)
5. मंत्रिण मंत्री (महासचिव विग्रहक)
6. प्राड्विवाक (महान्यायवादी)
7. पण्डित (ज्ञानी)
8. सुमन्त (कोषाध्यक्ष)
9. अमात्य (राजस्व मंत्री)
10. दूत (संदेश वाहक)

1- iqjksfgr

पुरोहित का कार्य अर्थववेद में दिये गए धार्मिक अनुष्ठानों का सम्पादन कर राष्ट्र की रक्षा करना था। वैदिक काल में तो वह राजा के साथ युद्ध स्थल पर भी जाता था और प्रार्थनाओं आदि द्वारा राजा की विजय की कामना करता था। पुरोहित की महत्ता वैदिक काल से ही राज्य मंत्रियों के मध्य बनी रही। पुरोहित का महत्व धार्मिक विचारों में प्रधान होने के कारण और भी अधिक था। यह मान्यता

धीरे–धीरे प्रारम्भ हो गई कि कि जिस राजा के पास पुरोहित नहीं होगा उस राजा का अन्न भगवान ग्रहण नहीं करेंगे। महाभारत में पुरोहित विहीन राजा को बांध्य बतलाया है। शुक्राचार्य के अनुसार पुरोहित को तीन विधाओं का समुचित ज्ञान होना चाहिये। उसे काम, क्रोध, मोह से पृथक होना चाहिए। कौटिल्य के अनुसार पुरोहित को उच्च कुल वाला होना चाहिए वेदज्ञ, ज्योतिष विधा का ज्ञान रखने वाला होना चाहिए।

2- çfrfufèk

यह पद राजा की अनुपस्थिति के समय कार्य करने के लिए निर्धारित किया गया था। वास्तव में इस पद के ऊपर राजा का युवराज ही आसीन होता था। राजा के न होने पर प्रतिनिधि उसके स्थान पर कार्य करता था। जायसवाल के अनुसार– ''प्रतिनिधि का वास्तविक महत्व स्पष्ट नहीं हो सका है। उसे मंत्री और प्रधान के पहले स्थान दिया जाना प्रदर्शित करता है। उसका स्थान महत्वपूर्ण रहा होगा। इस प्रकार उसका पद अत्याधिक महत्वपूर्ण होता था।''

3- çèkku

मंत्रिपरिषद् का सबसे महत्वपूर्ण सदस्य प्रधान होता था। उसका कार्य राज्य के सभी कार्यों का निरीक्षण करना होता था। इसके प्रमुख सहायक महामात्य, महाप्रधान, मंत्री और महामंत्री होते थे। प्रधान के हाथ में राज्य के सभी कार्य समर्पित थे। यह राजा का प्रमुख व्यक्ति होता था।

4- lfpo

सचिव सेना का प्रधान होता था। मौर्य काल में उसके लिए सेनापति और गुप्त काल में ''बलाधिकृत'' शब्द यह सिद्ध करते हैं कि उसको सेना का प्रधान समझा जाता था। उसे सेना की सभी प्रकार की व्यवस्था करनी होती थी। उसकी योग्यता के बारे में कौटिल्य ने कहा है कि उसकी उच्च करने वाला होना चाहिये। उपर्युक्त गुणों से सम्पन्न होने पर ही किसी व्यक्ति को प्रधान मंत्री का पद समर्पित किया जा सकता था।

5- e‡f=.k e=h

मंत्री को साम, दाम, दण्ड और भेद में निपुण होना चाहिए उसे राजा को यह बतलाते रहना चाहिए। कि राजा को किस समय किस नीति का अनुसरण करना चाहिए। उसे ग्रंथों में कही–कहीं 'महासन्धि विग्रह' नाम दिया गया है। अतः स्पष्ट होता है कि उसे वैदेशिक कार्य भी करने पड़ते होंगे।

6- çkfMookd

इसको लोकशास्त्रों एवं नीति शास्त्रों का पूर्ण ज्ञाता होना चाहिए। न्याय विभाग का चूंकि वह मुख्य न्यायाधीश होता था। अतः उसकी समुचित प्रकार से न्याय कार्य करने चाहिए। राजा की अनुपस्थिति में वही निर्णयदाता होता था। इसे ग्रंथों में महान्यायववादी भी कहा गया है।

7- if.Mr

पण्डित के हाथ में धर्म का निरीक्षण होता था। उसको धर्म के विषय में पूर्णतः दक्ष होना चाहिए। उसकी यह भी देखना चाहिए कि सामान्य जनता के द्वारा समाज में धर्म का पालन किया जा रहा है या नहीं।

8- l|eU

उसके हाथों में अर्थ विभाग का पूरा कार्य होता था। इसके कई नाम ग्रंथों में मिलते हैं। संचयकर्ता, भोगागारिक और अर्थसंचयकर्ता। इसे सम्पूर्ण राज्य की आर्थिक व्यवस्था का अवलोकन करना पड़ता था। इसे हम कोषाध्यक्ष भी कह सकते हैं।

9- vfeR;

इसको राज्य की सम्पति का अवलोकन करने वाला समझा जाता था। इसे राजस्व मंत्री भी कहा जाता था। ग्रामों, वनों, भूमि और देश की अन्य सम्पति का पूर्ण अवलोकन करके यह उसका लेखा–जोखा अपने पास रखता था। कौटिल्य के विचारानुसार राजा को चाहिए कि वह अमात्य के गुणों को देखकर ही उसकी नियुक्ति करे।

10- nwr

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को बनाने के उद्देश्य से उस समय दूत का निर्वाचन किया जाता था। उसे कूटनीति का ज्ञाता होना चाहिये। रामायण और शुक्र नीति आदि ग्रंथों में 'दूत' शब्द का प्रयोग किया गया है। शुक्राचार्य के अनुसार दूत को निभोंक स्पष्ट वक्ता, वाकपटु और अच्छी स्मृति वाला होना चाहिए। जिससे वह सन्देश उचित ढंग से दूसरी जगह पहुँचा सके।

eaf=ifj"kn dh dk;çkkyh

मंत्रिपरिषद् किस प्रकार कार्य करती थी, इसके सम्बन्ध में स्पष्ट विवरण ग्रन्थों में नहीं मिलते हैं। ग्रन्थों में दिये विवरणों से मंत्रिपरिषद् की कार्यप्रणाली का आंकलन किया जा सकता है। यह तथ्य मिलता है कि साधारण रूप से मंत्रिपरिषद् की बैठक की अध्यक्षता राजा द्वारा की जाती थी। राजा। मंत्रियों से व्यक्तिगत तथा सामूहिक दोनों ही रूप में मन्त्रण करते थे। मनुस्मृति में कहा गया है कि राजा को चाहिए कि वह दोनों प्रकार से परामर्श करे।

अर्थशास्त्र के अनुसार मंत्रीपरिषद् की बैठक विशेष कार्यों के लिए होती थी। प्रत्येक निर्णय को लिपिबद्ध किया जाता था। हर विभाग के अन्तिम निर्णय के लिए राजा की स्वीकृति लेना आवश्यक थी। राजा के हस्ताक्षर होने के बाद वह सर्वमान्य हो जाता था। राजा अधिकतर मंत्रिपरिषद् के बहुमत को स्वीकार कर लेता था। मंत्रिपरिषद् के एक मत होने पर वही अधिकार हो जाते थे, जो राजा के थे। मंत्रिपरिषद् की बैठक की अध्यक्षता राजा करता था। मंत्रीगण राजा के पास अपना मत लिखित रूप में भेज सकते थे। मंत्रिपरिषद् की बैठक आवश्यक अवसरों पर बुलाई जाती थी कि राजा के अनुचित व हानिकारक आदेशों को मंत्रिपरिषद् अस्वीकृ त कर सकती थी। मंत्रिपरिषद् के कार्य गोपनीयता के साथ किये जाते थे।

eaf=ifj"kn ds vfèkdkj

ग्रंथों में मंत्रिपरिषद् को राजा का परामर्श दाता, मार्गदर्शक, सहायक एवं सहयोगी बताया गया है। महाभारत और शुक्र नीति के अनुसार राज्य की सम्पूर्ण सत्ता मंत्रियों के हाथ में थी। मैगस्थनीज ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि राजा की

स्थिति मंत्रिपरिषद् के समक्ष नगण्य थी। मैगस्थनीज लिखता है कि राज्य के उच्च पद, न्यायालयों तथा सार्वजनिक विषयों का निर्णय आदि सभी की व्यवस्था मंत्रिपरिषद् करती थी। कोषाध्यक्ष, सेनापति, नौ सेनापति और कृषि विभाग के प्रधान आदि को निर्वाचित करने का अधिकार मंत्रिपरिषद् को था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अनुसार "मंत्रिपरिषद् की सहमति से इन सभी अधिकारियों की नियुक्ति, राजा करता था।''

राजा की दृष्टि में मंत्रिपरिषद् का काफी सम्मान था। वह मंत्रिपरिषद् को उसके कार्यों के लिए सम्मानित करता था। मंत्रिपरिषद् राजा को स्वेच्छाचारी बनने से रोकती थी। कई उदाहरण हैं जिसमें मंत्रिपरिषद् ने राजा को, पद से पृथक कर दिया जैसे राजा अजयपीढ को पद से पृथक कर दिया था।' अल्तेकर के अनुसार 'सत्ता सामान्य रूप से राजा और मंत्रियों में बंटी रहती थी और शासक उन दोनों शक्तियों के ऊपर आधारित रहा करता था। जब राजा शक्तिशाली हुआ करते थे। तो राज्य शक्ति उसमें निहित होती थी। मंत्रियों के सबल होने पर राज्य सत्ता उनमें परिवर्तित हो जाती थी।'' मंत्रीपरिषद को परम्परागत रूप से अपने राजा को पद से हटाने व उसकी स्वेच्छाचारिता पर प्रतिबंध लगाने की शक्तियाँ प्राप्त थीं।

fu"d"k

अतः उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्राचीन शासन प्रणाली में मंत्रिपरिषद् महत्वपूर्ण संस्था थी। वास्तव में मंत्री राज्य के स्तम्भ माने जाते थे। मंत्रिपरिषद् में प्रजा के ही प्रमुख व्यक्ति चुने जाते थे। अतः केन्द्रीय तथा प्रान्तीय दोनों प्रशासन में मंत्रिपरिषद् का ही प्रमुख स्थान था। इसके बिना राज्य का संचालन असंभव था।

lIrkx fl)kUr

प्राचीन भारत में राज्य के सावयव रूप का उल्लेख मिलता है। राज्य एक सजीव एकात्मक संस्था के रूप में स्वीकृत था और सप्त प्रकृतियों से युक्त था। सप्तांग राज्य की कल्पना प्राचीन भारतीय शास्त्रकारों के अनुसार एक जीवित शरीर की कल्पना है, जिसके सात अंग होते हैं। प्राचीन भारतीय राजशास्त्रियों ने राज्य के स्वरूप (अथवा प्रकृति) के विषय में मुख्यतः सप्तांग सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। कौटिल्य ने राज्य को 'प्रत्यंगभूत' कहा है, जिससे राज्य रूपी शरीर के अंगों का बोध होता है। धर्मशास्त्रों (मनुस्मृति व याज्ञवल्क्य स्मृति) अर्थशास्त्र एवं नीतिशास्त्रों में राज्य के सात अंगों का वर्णन मिलता है। राज्य के सात अंगों अथवा अवयवों को मनु, वृहस्पति, भीष्म, कौटिल्य, शुक्र आदि सभी आचार्यों ने माना है। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में बतलाया है कि राज्य सात अंगों अथवा कोष, दण्ड और मित्र।[29] मनु के अनसार उनके नामों में कुछ अन्तर है – दुर्ग के स्थान पर पुर, जनपद के स्थान पर राष्ट्र और मित्र के स्थान पर सुहृद्।[30]

डॉ. अल्तेकर के अनुसार, ''कौटिल्य और मनु दोनों की यह धारणा है कि राज्य असम्बन्द्र वस्तुओं का पुंज नहीं है। प्रत्येक भाग अपना हित अपनी इच्छा के अनुरूप रखता है तथा इसके सावयवी रूप को स्वीकार करते हैं। राजा, मंत्री, भूमि, श्रोत, दुर्ग, सेना और मित्र मिलकर राज्य का निर्माण करते हैं, यही राज्य के सप्तांग है।''[31]

प्राचीन भारत के प्रायः सभी राजशास्त्रकारों ने राज्य के सप्तांग सिंद्रान्त का विवेचन अपने ग्रन्थों में किया है। उन्होंने इस अंगो की उत्तमता पर ही राज्य की उत्तमता के निर्भर होने की बात कही है। मनु के अनुसार राज्य के सात अवयव परस्पर एक दूसरे के सहारे राज्य के अस्तित्व को स्थिर रखते हैं। वे इन सातों अंगों में से किसी को भी एक दूसरे को छोटा या बड़ा नहीं मानते।[32] उनके मतानुसार राज्य का प्रत्येक अंग अपने स्थान पर महत्वपूर्ण होता है। महाभारत, अर्थशास्त्र, वृहस्पति स्मृति, कामन्दकनीतिसार आदि ग्रन्थों में सप्तांग राज्य का उल्लेख मिलता है। हिन्दु राजशास्त्र के व्याख्याकार मानते हैं कि प्राचीन भारत में राज्य को बनाने वाले तत्व सात थे और यही राज्य के आवश्यक निर्माणकारी अंग

हैं। सप्तांग राज्य के विषय में शुक्रनीति में कहा गया है कि राज्य रूपी शरीर के अंगों में राजा सिर है, मंत्री नेत्र हैं, मित्र कान हैं, कोष मुख हैं, बल मन, दुर्ग हाथ और पैर राष्ट्र हैं।[33] शुक्रनीति में ही राज्य को वृक्ष बतलाते हुए कहा गया है कि राजा उसका मूल है, मंत्री उसका तना है, शाखाएं सैनिक अधिकारी हैं, फूल व पत्तियाँ सैनिक हैं, राष्ट्र (भूमि) बीज है और जन फल हैं।[34] स्मृतियों में भी राज्य के सात अंगों का उल्लेख मिलता है। राज्य के इन अंगों के लिए अंग, प्रकृति, वर्ग, तीर्थ, आदि शब्दों का भी प्रयोग हुआ है।[35] इन तत्वों को मिलाकर राज्य की प्रकृति कहा जाता हैं। 'राज्य' शब्द का वास्तविक अभिप्राय सरकार से न होकर उस राज्य के संगठन से है। जिसके द्वारा प्रभुसत्ता का उपयोग किया जाता है। कौटिल्य कृत अर्थशास्त्र में स्वामी से अभिप्राय राजा से लिया गया है, दुर्ग, किला अथवा नगर का संकेत करता है, अमात्य राज्य के उच्चधिकारी की ओर संकेत करता है, कोष का अभिप्राय राजकीय खजाने से तथा दण्ड का अर्थ सेना है, मित्र से अभिप्राय उस सेवक से है, जो अपना सब कुछ त्यागकर राजा की रक्षा करता है। कौटिल्य ने राज्य के अंगों में व्यवहारिक पक्ष को प्रधानता दी थी।

1- Lokeh ¼jkt k½

राज्य का शासक राजा होता है। उसकी कौटिल्य ने स्वामी कहा है। प्राचीन भारत में राजा को सर्वोच्च स्थान प्राप्त था। समाज को मर्यादा में रखने वाला राजा माना जाता था। राजा स्वेच्छाचारी नहीं हो सकता था। वह धर्म के आधीन था। राजा धर्मानुसार चलकर, प्रजा को धर्मानुसार चलने की शिक्षा देता था। राज्य में शान्ति बनाये रखने व बाह्य आक्रमणों से सुरक्षा करना राजा का प्रथम कर्तव्य था। इसके लिए राजा को पराक्रमी शक्तिशाली, उच्च लक्ष्य वाला, धार्मिक, सत्यवक्ता, सम्पन्न, दूरदशों इत्यादि गुणों से सम्पन्न होना चाहिए। राजा को आलस्य विहीन होना चाहिए। सदैव प्रसन्न रहने वाला राजा ही उत्तम प्रकार से राज्य का संचालन कर सकता है। राजा में उल्लेखित गुण होना अनिवार्य हैं। स्वामी को राज्य रूपी शरीर का 'सिर' भी कहा गया है। इससे स्पष्ट है कि राज्य के सातों अंगों में स्वामी का स्थान सर्व प्रमुख है। प्रजापालन उसका सबसे महत्वपूर्ण कर्तव्य था।

2- mueKR;

राज्य के प्रशासन में अमात्यों का विशेष महत्व है। कौटिल्य के अनुसार अमात्य के लिए। जरूरी है कि, वह जनपद का निवासी होना चाहिए। उसमें निष्पक्षता और साथ ही विद्या, बुद्धि से सम्पन्न होते हुए यह क्षमता होनी चाहिए कि वह राजा को उचित मार्ग पर ले जा सके। अर्थशास्त्र में 'अमात्य' शब्द का प्रयोग राज्य के नियमित उच्च अधिकारी वर्ग के लिए हुआ है। जिसमें पुरोहित, मंत्री, संगृहीता, कोषाध्यक्ष, दूत, विभिन्न विभागों के अध्यक्ष तथा अन्य प्रशासनिक अधिकारी सम्मिलित हैं। राज्य के अंग के रूप में 'अमात्य' शब्द से मंत्री व अधिकारी दोनों का तात्पर्य लिया जाना उचित है।

3- tuin

जनपद का अभिप्राय उस राज्य के विशेष क्षेत्र से होता है। जनपद के द्वारा राज्य की तीसरी प्रकृति का निर्धारिण किया जाता है। कौटिल्य के अनुसार 'जनपद की स्थापना करते समय ध्यान रखा जाना चाहिए कि उसके मध्य में दुर्ग स्थित हो व इनमें अधिक अन्न पैदा होना चाहिए। इसमें आत्मरक्षा की व्यवस्था होनी चाहिए। यहाँ की जनता परिश्रमी हो, कम से कम मेहनत में अधिक अनाज पैदा हो। जनपद को जल व स्थल मार्गों से सुसम्पन्न होना चाहिए। वहाँ की जलवायु स्वास्थ्यवर्धक हो जिससे लोग अच्छा जीवन व्यतीत कर सके।'' दूसरे शब्दों में जनपद का अर्थ होता है, जन के रहने का स्थान अर्थात राज्य के अधीन "भूभाग" किन्तु अर्थशास्त्र में जनपद का अर्थ भूमि व जनसंख्या दोनों से लगाया गया है। जनपद का बोध 'राष्ट्र' शब्द से अधिक अच्छे प्रकट से होता है। कई विद्वानों ने जनपद को एक सुरक्षित 'निश्चित भूभाग' माना है। पर्वत, द्वीप, दुर्ग आदि जनपद के अंतर्गत ही होते हैं।

4- nqx ;k ifj

यह राज्य का चतुर्थ महत्वपूर्ण अंग माना गया है। राज्य को सुरक्षित रखने के लिये दुगों की विशेष आवश्यकता बतलायी गयी है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अनुसार चार प्रकार के दुर्ग बनाये जाते हैं– 1. वन में 2. दल–दल में 3. जल के बीच में 4. ऊँची पहाड़ी पर। कौटिल्य ने लिखा है कि राजा को अपने चारों ओर

इस प्रकार के किलों का निर्माण करना चाहिए जिनके द्वारा भली–भांति लड़ाई लड़ी जा सके। प्राचीन भारत में राज्यों में जनपद के मध्य पुर या राजधानी होती थी। जिसे दुर्ग से सुरक्षित बनाया जाता था। जिससे बाह्य आक्रमणों आदि से सुरक्षा हो सके। जिस राजा का दुर्ग सुदृढ़ होता था। उसे हराना असंभव था। महाभारत में ऐसे दुर्ग का कई जगह वर्णन है। इसमें राजपुरूष, ब्राह्मण, शिल्पी व्यापारी आदि सभी का निवास है। इसमें यह धन–धान्य, अस्त्र–शस्त्र काफी मात्रा में रखे जाते हैं।

मनु ने राज्यों के अंग में दुर्ग को तीसरा स्थान दिया है। उन्होंने दुर्ग को जनपद अथवा राष्ट्र से पृथक रूप में आवश्यक तत्व बताया है। महाभारत में जनपद और पुर का स्पष्ट उल्लेख है कि जनपद राजधानी (पुर) को छोड़कर शेष भाग का सूचक है। जबकि पुर राजधानी का सूचक है।

5- dk"k

कौटिल्य के अनुसार कोष इस प्रकार होना चाहिए। जिसमें कि पूर्वजों के द्वारा अजित धर्म की कमाई को संचित किया हो। राजा को उद्योग–धंधे, व्यापार, फसलों आदि पर विशेष ध्यान देना चाहिए। क्योंकि ये ही राज्य के कोष भरने के साधन हैं। इनके अन्तर्गत धान्य, रत्न तथा इसी प्रकार के पदार्थ विद्यमान होने चाहिए। कौटिल्य का मत है कि कोष मात्रा में इतना अधिक हो कि उससे अकाल आदि के समय प्रजा की रक्षा कर सके।' राज्य का एक संचित राशि के लिए राजकोष होता है। उसमें कृषि, व्यापार, खानों अन्य करों से धन प्राप्त कर जमा करते हैं। राजकोष राज्य का एक प्रमुख अंग है। इसके वगैर राज्य संचालन नहीं हो सकता है। राजा कोष के बिना कुछ कार्य नहीं कर सकता था।

6- n.M ;k lsuk

राज्य के प्रशासन एवं सुरक्षा के लिए सेना का विशेष महत्व है। राजा का अगला प्रमुख अंग दण्ड है। राजा उसी के द्वारा अपने देशवासियों तथा शत्रु दल पर नियंत्रण करता है। यह राज्य का एक विशेष आधार है। जिसके कमजोर होने पर राज्य की नींव स्वतः हिल जाती है। सेना में सैनिक वंशानुगत, साहसी, बुद्धिमान, सैनिक कला–कौशल में प्रवीण होना चाहिए तथा उनमें राजा के लिए सब कुछ

न्यौछावर कर देने की तत्परता होनी चाहिए। कौटिल्य के अनुसार जिस राजा के पास शक्तिशाली सेना होती है। इसके मित्र तो बने ही रहते हैं किन्तु शत्रु भी मित्र बन जाते हैं। महाभारत तथा शुक्रनीति में सेना के संगठन का वर्णन किया गया है। प्राचीन भारत में चार तरह की सेना का कई ग्रन्थों में वर्णन मिलता है। पैदल, घोड़े पर सवार, हाथी व रथ सेना का वर्णन मिलता है। चोल साम्राज्य में तो नौसेना (जल सेना) काफी शक्तिशाली थी। पहले सेना में क्षत्रिय ही भर्ती होते थे। किन्तु बाद में सभी वर्गों के लोग भर्ती होने लगे थे।

7- fe= ;k lâ

आचार्य कौटिल्य ने राज्य की प्रकृति का अन्तिम अंग मित्र का उल्लेख किया है। इस मित्र को इस प्रकार होना चाहिए। कि वह अपने वचनों व कर्मों में स्थायी हो। राजा को इसमें पूर्ण विश्वास होना चाहिए। अतः इन मित्रों से यह आशा की जाती है कि समय पड़ने पर यह राजा की सहायता भी करेगे। कौटिल्य ने दो प्रकार के मित्र बताए है। 1. सहज 2. कृत्रिम। सहज मित्र कृत्रिम मित्र से श्रेष्ठ तथा विश्वसनीय होता है। कौटिल्य के अनुसार मित्र को आनुवांशिक होना चाहिए। मित्र से सम्बन्ध विच्छेद नहीं होना चाहिए।[37] आचार्य वातव्याधि का मत है कि अपनी सेना और अपने मित्र पर एक साथ पड़ी विपत्ति में मित्र पर पड़ी विपति अधिक कष्टकर है, क्योंकि मित्र दूर रहकर भी विजयी राजा के लिए कार्य करता है।[38]

jkT; d lIrkxksa dk egRo

राज्य के उपर्युक्त सातों अंग एक दूसरे से जुड़े हुए हैं और इन अंगों से मिलकर ही राज्य रूपी शरीर की रचना होती है। राज्यरूपी शरीर के आदर्श संचालन के लिए सभी का स्वरूप स्वरूप व दोषहीन होना अत्यावश्यक है। कामन्दक के अनुसार एक अंग में भी दोष होने पर सारे राज्य की कार्यक्षमता अस्त–व्यस्त हो जायेगी। कौटिल्य के अनुसार राज्य के सातों अंग शरीर के अंगों की भांति कार्य करते हैं तो राजा को राज्य संचालन में सहायता मिलती है। राज्य के सप्तांग, यद्यपि महत्व की दृष्टि से कुछ कम और अधिक हो सकते हैं किन्तु कार्य की दृष्टि से सभी अनिवार्य हैं। मनु के अनुसार –

सप्ताग स्येह राज्यस्य विष्टब्धस्य त्रिदण्डवत्।

अन्योन्य गुण वैशैष्यान्त किचिदति रिच्यते।

राज्य की समृद्धि के लिए सभी अंग महत्वपूर्ण हैं। कौटिल्य के अनुसार राज्य की ये सात प्रवृत्तियाँ यदि अपने गुणों से युक्त हों तो ये राज्य के लिए समृद्धि कारक होंगी। कौटिल्य इन सात प्रवृत्तियों को राज्य रूपी शरीर का अंग मानते हैं।

fu"d"k

इन्ही सात अंगों को राज्य के निर्माणक तत्व कहा गया है। इनके ऊपर ही राज्य को आधारित होकर चलना पड़ता है और इन सात तत्वों में से एक की भी कमी से, राज्य नष्ट हो जाता है अर्थात अनिवार्य हैं। इनके वगैर न राजा होगा न ही राज्य होगा। कौटिल्य के अनुसार इन अंगों में से एक भी कमी की स्थिति में राज्य का निर्माण नहीं हो सकता है। सप्तांग सिद्धान्त भारतीय राजशास्त्र प्रणेताओं की महत्वपूर्ण देन है।

I nHk

1. अथर्ववेद, 6:128
2. शतपथ ब्राह्मण, 5.4.4.5
3. उपाध्याय, रामजी; प्राचीन भारत की सामाजिक संस्कृति, इलाहाबाद, 1962, पृ. 448
4. विष्णु संहिता, 3.70
5. कौटिल्य, अर्थशास्त्र 6–1
6. वही, 1–3
7. अल्तेकर, अनंत सदाशिव; प्राचीन भारतीय शासन पक्ष्द्रति, इलाहाबाद, 1959 पृ. 75–76
8. वही पृ. 57
9. शर्मा, हरीशचन्द्र; प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचार एवं संस्थाएं, जयपुर, 1970, पृ. 359
10. वही, पृ. 360
11. अल्तेकर, अ.स., पूर्वोल्लिखित, पृ. 67
12. शर्मा, हरीशचंद्र, पूर्वोल्लिखित, पृ. 361
13. शर्मा, हरीशचन्द, पूर्वोल्लिखित, पृ. 363
14. नारद स्मृति, XVIII 21–22
15. शरण, परमात्मा – प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थाएं, मेरठ, 1977, पृ. 370
16. महाभारत, शांति पर्व – अध्याय, 91, 9
17. शरण, परमात्मा दृ पूर्वोल्लिखित, पृ. 372
18. महाभारत शांति पर्व – अध्याय 45, 56

19. शरण, परमात्मा – पूर्वोल्लिखित, पृ. 380

20. शर्मा, हरीशचन्द्र, पूर्वोल्लिखित, पृ. 373–376

21. अल्तेकर, अ.स., प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, इलाहाबाद, 1959, पृ. 137

22. देखिए, परमात्मा शरण, प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थाएं, मेरठ, 1977, पृ. 430

23. देखिए, शर्मा, हरीशचन्द्र प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचार एवं संस्थाएं, जयपुर, 1970, पृ.388

24. जायसवाल, के.पी. हिन्दु पालिटी, बैंगलौर, 1940, पृ. 277–28

25. महाभारत, शांति पर्व, 80:27 तथा 83:19

26. अर्थशास्त्र 1,8

27. परमात्मा शरण, पूर्वोल्लिखित, पृ. 438–439

28. शर्मा, हरीशचन्द्र, पूर्वो ल्लिखित, पृ. 403

29. ''स्वाम्यमात्यजनपद दुर्ग कोष दण्ड मित्राणि प्रकृतयः"।

    अर्थशास्त्र, अधिकरण 6, अध्याय –1

30. स्वाक्यमात्यौ पुरं राष्ट्र कोषदण्डौ सुह्रत्तया।

    सप्त प्रकृतयो ह्येताः सप्तांग राज्यमुच्यते।।

    मनुस्मृति, अध्याय 9, श्लोक 294

31. अल्तेकर, ए.एस.; स्टेट एण्ड गवर्नमेंट इन ऐंशिमेंट इण्डिया, पृ. 43,

32. चौधरी, राधाकृष्णा; प्राचीन भारतीय राजनीति तथा शासन व्यवस्था, पृ. 35

33. ह्गमात्या सुह्रच्छोत्रं मुखं कोशो वलं मनः।

    हस्तापादौ दुर्ग राष्ट्री राज्यांगानि स्मृतानि हि।

    शुक्रनीति, अध्याय 1, श्लोक 62

34. राज्यवृस्य नृपतिः मूलं स्कंधाश्च मन्त्रिणः।

शाखास्सेनाधियाः सेनाः पल्लवाः कुसुमानि च।

प्रजाः फलानि भू–भाग बीजं भूमिः प्रकल्पिता।

शुक्रनीति, अध्याय 4 श्लोक 1257, 8

35. चौधरी, राधाकृष्ण, पूर्वोल्लिचित पृ. 39

36. शरण परमात्मा : प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थाएं, पृ. 317

37. अर्थशास्त्र, अधिकरण 6, अध्याय 1

38. देखिए, शरण, परमात्मा, पूर्वोल्लिखित, पृ. 318

v/;k;&3

x.kjkT; & lxBu] 'kkluiz)fr] xq.kkad"k

वैदिक काल से लेकर गुप्त काल तक गणराज्य भारत के इतिहास में महत्वपूर्ण रहे। गणराज्यों की परम्परा भारत में अतिप्राचीन काल से विद्यमान रही है। इन गणराज्यों में स्वतंत्रता की भावना एवं उत्कृष्ट देशभक्ति प्रशंसनीय थी। विदेशी आक्रमणकारियों से भारत–भूमि की रक्षा जिस लगन, त्याग और शौर्य से गणराज्यों ने की, उतना शौर्य राजतंत्र नहीं दिखा सके। सिकन्दर, शक तथा हूणों से इन्हीं गणराज्यों ने लोहा लिया।[1] प्राचीन भारत के प्रमुख गणराज्यों के संबंध के विभिन्न प्रकार के साक्ष्य उपलब्ध हुए हैं। इनमें साहित्यिक साक्ष्य एवं पुरातात्विक साक्ष्य, जिनमें मुद्रा, अभिलेख तथा उत्खनन इत्यादि से प्राप्त साक्ष्य प्रमुख हैं। गणराज्यों के विस्तृत अध्ययन के लिए ब्राह्मण ग्रंथ, बौद्ध एवं जैन ग्रंथों में उल्लिखित गणराज्यों से सम्बन्धित विवरणों का अध्ययन अत्यावश्यक है।

गणराज्यों का सर्वप्रथम उल्लेख वैदिककाल से ही मिलता है। प्रो. अल्तेकर का मत है, 'ऋग्वेद के अंतिम सूक्त में प्रार्थना की गयी थी कि समिति की मंत्रणा एक मुखी हो, सदस्यों के मन भी परम्परानुकूल हों और निर्णय सर्वसम्मत हों। इस सूक्त का संकेत गणतंत्र की समिति के लिए भी हो सकता है।''[2] यह समिति बाद में जाति की समिति बन गयी और क्षत्रिय गणराज्यों में परिवर्तित हो गयी। गणराज्य प्राचीन भारत में लगभग 1000 वर्ष तक अपने अस्तित्व की किसी न किसी रूप में कायम रख सके।[3]

वैदिक काल में गण एक प्रकार का संगठन था, जिसमें उसके सदस्य विचारविमर्श करते थे। सामूहिक रूप से मिलते–जुलते थे और आवश्यकता पड़ने पर संगठित रूप से सैनिक कार्य का सम्पादन भी करते थे। वैदिक काल में गण एक सामूहिक संस्था के रूप में था और गणपति इसका प्रधान हुआ करता था। गणराज्य का अर्थ समूह द्वारा संचालित राज्य माना गया है।

x.kjkT;k dk fodkl

प्राचीन भारत में गणराज्य व्यवस्था के विकास को केवल ऐतिहासिक काल में ही स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। गणराज्यों के विकास की तीन कालों में विभाजित किया जा सकता है –

प्रथम काल – 400 ई.पू. तक

द्वितीय काल – 350 से 300 ई.पू. तक

तृतीय काल – 150 ई.पू. से 350 ई. तक

प्रथम काल के गणराज्यों को बौद्ध साहित्य में विवेचित किया गया है। इन्हें गण या संघ राज्यों के रूप में उल्लेखित किया गया है। इनमें सुसुम्मारगिरि के भग्य, अल्लकप्प के बुली, केशपुत्र के कालाम, पिप्पीवन के मोरिय, रामग्राम के कोलिय, कुशीनारा के मल्ल, पावा के मल्ल काशी के मल्ल कपिलवस्तु के शाक्य, मिथिला के विदेह, वैशाली के लिच्छिवि थे। इनमें सबसे महत्वपूर्ण कपिलवस्तु के शाक्य, मिथिला के विदेह और वैशाली के लिच्छिवि थे। कालान्तर में मिथिला के विदेह तथा वैशाली के लिच्छिवि मिल गये और वज्जि संघ के नाम से प्रसिद्ध हुए। इन गणों में परस्पर संघर्ष होता रहता था। इन गणराज्यों में स्वतंत्रता की भावना बहुत प्रबल होती थी।

गणराज्यों के विकास का द्वितीय काल 350 से 300 ई.पू. तक चला। इस काल में पटल, अराट, मालव, क्षुद्रक, सम्वष्टई, आगलस्सोई तथा निसोई अस्तित्व में थे।

विकास का तृतीय काल 150 ई.पू. से 350 ई. तक चला। इस काल में योधेय, मालव, कुनिन्द एवं वृष्णि गणराज्य दक्षिण पंजाब, राजपूताना और मालवा में स्थित थे।

प्रो. अल्तेकर के अनुसार 500 ई.पू. से 400 ई. तक पंजाब और सिन्धु घाटी में गणराज्यों का अस्तित्व था। 200 ई.पू. से लेकर 400 ई. तक आगरा और जयपुर प्रदेश में अर्जुनायन गणराज्य का अस्तित्व रहा। सहारनपुर से पश्चिम की ओर भागलपुर तक और उत्तर पश्चिम में लुधियाना से दक्षिण पूर्व में दिल्ली तक यौधेय

गणराज्य अस्तित्व में रहा। मालव और क्षुद्रक गणराज्यों ने सिकन्दर के आक्रमणों का प्रबल विरोध किया।'

x.k dk vFk o Lo:i

'गण' का वास्तविक अर्थ समूह होता है। इस प्रकार प्राचीन भारत में गणराज्य में समूह का अर्थ राज्य होता रहा होगा। अर्थात गण का आशय लोगों के समूह से होता था। इसी प्रकार इसका नाम गणराज्य रखा गया। डॉ. जायसवाल के अनुसार "यह एक शासन प्रणाली थी। जो लोगों के समूह द्वारा संचालित होती थी। चूंकि गण द्वारा ही प्रजातंत्र का शासन संचालित हो था, अर्थात गण का अर्थ प्रजातंत्र राज्य से लिया जाने लगा।''[6] 'गण' शब्द ऋग्वेद में 40 बार अर्थववेद में 9 बार, ब्राह्मण ग्रंथों में इसका प्रयोग कई बार किया गया है।[7] पाणिनि के अनुसार – 'गण और "संघ" शब्द दोनों का एक ही अर्थ है। जातकों में गण शब्द का प्रयोग समिति के लिये किया गया है। गण अपनी परराष्ट्र नीति के लिए जाने जाते थे।''

महाभारत में गण एवं संघ एक दूसरे–के पर्याय माने गये हैं। पतंजलि ने संघ, समूह, समुदाय को समानार्थी बतलाया है। जैन ग्रंथों के अनुसार गण शब्द पूर्णरूपेण राजतंत्र के विपरीत है। गण का प्रयोग मनुष्यों के एक संगठित ओर विवेकयुक्त समूह से लिया गया है। प्राचीन भारत में प्रजातंत्रात्मक प्रणाली प्रचलित थी। कुछ विचारकों का मत है कि केवल राजतंत्र शास, प्रणाली थी। इसके अनुसार गण का अर्थ जातियों से था। जो कि अपने स्वतंत्र अस्तित्व कायम किये हुए थीं। कुछ विद्वानों के अनुसार 'गण" कुलीन व्यक्तियों के लिये प्रयुक्त किया गया और शासन व्यवस्था कुछ कुलीन व्यक्तियों के हाथ में थी। इन लोगों के दिये गये उदाहरणों के अनुसार यौधेयों में 5000 व्यक्ति तथा लिच्छवि में 7707 व्यक्ति शासन सत्ता की संभालते थे या शासन सत्ता में भाग लेते थे।[8]

पहले यद्यपि कुलों का समूह गण कहलाता था, तथापि कालान्तर में अराजक राज्य के लिए 'गण' शब्द का प्रयोग होने लगा।[9] ऐतिहासिक विश्लेषण के बाद हम इस तथ्य पर पहुँचते हैं कि प्राचीन काल में शासन व्यवस्था नृपतंत्रात्मक थी और इसके बाद धीरे–धीरे प्रजातंत्रात्मक हो गयी और गणराज्यों का उदय हुआ। प्राचीन भारत में अनेक गणराज्य अस्तित्व में थे। जैसे यौधेय, लिच्छवि, योन, आन्ध्र, गान्धार,

भोज, कुछार, वज्जि आदि।[10] प्राचीन काल में गणों द्वारा राज्य का संचालन किया जाता था। गणराज्य लोकतंत्रीय शासन व्यवस्था का ही दूसरा स्वरूप था।

x.kjkT;k d fo"k; e Kku çkIr dju d lkèku

1. बौद्ध ग्रंथ 2. महाभारत 3. पाणिनी का अष्टाध्यायी 4. कौटिल्य का अर्थशास्त्र 5. यूनानी लेखकों के विवरण इत्यादि प्रमुख ग्रंथों से गणराज्यों के बारे में विशेष जानकारी प्राप्त होती है :–

1- ck) xzFk

गणराज्यों की महत्वपूर्ण जानकारी हमें बौद्ध ग्रंथों से प्राप्त होती है। दीघनिकाय (महापरिनिवानसुक्त), मज्झिम निकाय, अंगुत्तर निकाय, महावंश, ललित विस्तार जातक कथाएं आदि बौद्ध ग्रंथों में वज्जि, मल्ल, शूरसेन, कपिलवस्तु के शाक्य, मिथला के विदेह, पावा के मल्ल, अल्लकप्प के बुलि, सुन्सुमारगिरि के भग्ग, केसपुत्र के कालाम और वैशाली के लिच्छिवि। त्रिपिटक तथा भाष्य ग्रंथों में गणराज्यों की शासन व्यवस्था पर प्रकाश डाला गया है।

2- egkHkkjr

महाभारत के शान्तिपर्व के अन्तर्गत 'गण" की विशेषताओं का वर्णन किया गया है। 'गण' अपनी परराष्ट्र नीति, राजकोष, युद्ध निपुणता के लिए प्रसिब्द्र थे। इनकी राजनीतिक व्यवस्था अत्यन्त सुन्दर थी। इनके राजकीय नियमों का शान्तिपर्व में स्पष्ट वर्णन किया गया है। महाभारत काल के गणराज्य इस प्रकार हैः– मालव, शिवि, यौधेय, औदुम्बर, वातधान, यादव, कुकुर, भोज आदि शान्तिपर्व में गणों के शक्तिशाली व उतम शासन प्रणाली का वर्णन किया गया है।

3- 0;kdj.k xzFk

पाणिनी की अष्टाध्यायी, पतंजलि कृत महाभाष्य आदि ग्रंथों में 'गण' शब्द की व्याख्या तथा गणराज्यों के सम्बन्ध में विवरण मिलता है। पाणिनी के अनुसार 'गण" और "संघ" दोनों शब्द समान अर्थ देने वाले हैं। पाणिनी ने अष्टाध्यायी में निम्न संघों का उल्लेख किया है। वक्क, दामनय ब्रह्मगुप्त, जानकी, यौधेय, पाश्र्व, कौष्ठिकी

आदि प्रमुख हैं। इनके अलावा 6 अन्य गणराज्यों का उल्लेख अष्टाध्यायी में किया गया है– मद्रक, अंधक, वृष्णि, वृज्जि, राजन्य, भर्ग इत्यादि।

4- uhfr xzUFk

कौटिल्य अर्थशास्त्र और कामन्दकीय नीतिसार में भी गणराज्यों के सम्बन्ध में विवरण मिलते हैं। कौटिल्य ने राजतंत्र का प्रबल समर्थन किया है, फिर भी उसके ग्रंथ अर्थशास्त्र में गणराज्यों का उल्लेख प्राप्त होता है। कौटिल्य ने वैराज्य के लक्षणों का विस्तार से वर्णन किया है। कौटिल्य के अनुसार वैराज्य एक अस्थायी संस्था थी। पर वैराज्य के अन्दर राजा का अभाव होता हैं उस राज्य का संचालन प्रजा द्वारा किया जाता है। कौटिल्य के विवरणानुसार वैराज्य का अर्थ उसकी लोकतंत्रात्मक शासन प्रणाली से लेना चाहिए। अर्थशास्त्र में निम्न गण राज्यों का वर्णन किया गया हैः–

1. काम्बोज 2. क्षत्रिय 3. सुराष्ट्र 4. श्रेणी 5. लिच्छिवि 6. कुकुर 7. वृजिक 8. कुरू 9. मद्रक 10. मल्ल 11. पाँचाल आदि गणराज्यों का उल्लेख अर्थशास्त्र में किया गया है। ऐसा आभास होता है कि इन गणराज्यों के अलावा भी अन्य गणराज्य प्राचीन भारत में रहे होंगे।

5- ;wukuh y[kdksa d fooj.k

एरियन, प्लूटार्च, स्ट्रेवो, कर्टियस, मैगस्थनीज आदि यूनानी विद्वानों के ग्रंथों में भी गणराज्यों के सम्बन्ध में विवरण मिलते हैं। यूनानी लेखकों में मैगस्थनीज का वर्णन सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। उसके अनुसार भारत में अनेकों गणराज्य थे। इस समय वर्णित जाति 'कठरआ' अत्याधिक पराक्रमशाली प्रतीत होती है। (अनेक प्रजातंत्रों का उल्लेख, इन यूनानी लेखकों के द्वारा किया गया है। उदाहरणार्थ यौधेय, सौभूति, पटल आदि गणराज्यों का वर्णन यूनानी लेखकों ने किया है।)

6- eæk;

उक्त साहित्यिक साक्ष्यों के अतिरिक्त गणराज्यों की मुद्रायें भी इनकी काफी जानकारी प्रदान करती हैं। यौधेय, औदुम्बर, नाग, वृष्णि, राजन्य, अर्जुनायन, मालव, आदि राज्यों का इन मुद्राओं में उल्लेख मिलता है। त्रिगत संघ का उल्लेख मुद्रा में

'त्रकत जनपदस्थ" किया गया है। इस प्रकार मुद्रायें भी उस समय के शासन के सम्बन्ध में अच्छा ज्ञान प्रदान करती हैं।

7- vfHkys[k

यौधेयों के बहुसंख्यक अभिलेख, जूनागढ़ अभिलेख (रूद्रदामन प्रथम), अशोक व गुप्त नरेशों के अभिलेखों में भी गणराज्यों के सम्बन्ध में विवरण मिलते हैं।

उपर्युक्त स्त्रोतों से गणराज्यों, उनकी व्यवस्था, उनके स्वरूप पर यथेष्ट प्रकाश पड़ता है।

x.kjkT;ksa dh fo'ks"krk,a

गण शब्द का प्रयोग स्पष्ट रूप से गणराज्य के लिये किया गया है :–

1. समस्त धार्मिक सामाजिक व राजनीतिक विधियां ब्राह्मणों द्वारा रचित हैं। जिनकी व्याख्या करने का अधिकार राज्य को नहीं है।
2. गणराज्यों की राज्यसभा के सदस्यों का चुनाव कुलधर्म के अनुसार होता था।
3. गणराज्य के राजा के चुनाव की विधि स्पष्ट नहीं है। परन्तु अनुमान के आधार पर वह राज्य सभा के सदस्यों द्वारा निवांचित होता होगा।
4. गणराज्यों की न्याय व्यवस्था धर्मशास्त्रों पर आधारित व संचालित थी। न्यायाधीश प्रकाण्ड विद्वान व समदर्शी होते थे।
5. राज्य की सर्वोच्च सत्ता विधि में निहित होती थी। राज्य का अर्थ विधि को क्रियान्वित करना था। वास्तव में राज्यसभा सवॉच्च संस्था थी। जो जनता के प्रति उत्तरदायी थी।
6. राज्यसभा, राजा से भी उच्च होती थी। समस्त प्रशासनिक सत्ता उसे प्राप्त थी।
7. गणतंत्र के संगठन पर विशेष बल दिया जाता था। गण व्यवस्था में व्यक्तिगत गुणों को सवांधिक सम्मान प्राप्त होता था।

8. सर्वत्र राज्यों में भाषण की स्वतंत्रता प्रजा को प्राप्त होती थी। सभासद, अध्यक्ष व अन्य पदाधिकारियों की आलोचना प्रजा कर सकती थी।

अतः प्राचीन भारत में श्रेष्ठ गणतंत्रीय व्यवस्था विद्यमान थी। जिसकी शासन व्यवस्था व संचालन श्रेष्ठ था।

x.kjkT;k dk lafoèkku vFkok 'kklu lxBu

गणराज्य की संगठन व्यवस्था के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी का अभाव है। तथापि विविध गणतंत्रों के संबंध में प्राप्त उल्लेखों से उनके विधान और शासन संगठन का आकलन किया जा सकता। महाभारत के अनुसार, गणराज्यों में प्रतिनिधित्व, जाति एवं कुलों के आधार पर होता था।[11] शांति पर्व के अनुसार गणराज्यों में जाति एवं कुल के आधार पर प्रत्येक व्यक्ति समान है। महाभारत काल में भारत के उत्तर और पश्चिम में बहुत से गणराज्य थे जिनका उल्लेख महाभारत के सभापर्व और वन पर्व में किया गया है। महाभारत कालीन गणराज्यों की राज्यसभा के सदस्य अर्थात गृहपति और कुलपति का चुनाव, कुल धर्म के अनुसार किया जाता था। कुलधर्मो को राज्य द्वारा मान्यता दी जाती थी और स्वतंत्रतापूर्वक कुलपति और गृहपति का चुनाव करते थे। सामान्य रूप से घर के वयोवृद्ध व्यक्ति की गृहपति बनाया जाता था। गणराज्य के अध्यक्ष का चुनाव किस प्रकार किया जाता था। यह स्पष्ट नहीं है।[12] फिर भी यह अनुमान है कि यह चुनाव केन्द्रीय समिति (राज्यसभा) के सदस्य ही करते होंगे, क्योकि गणराज्य का संगठन और कार्य बहुमत पर आधारित था। गणराज्यों की न्याय व्यवस्था धर्मशास्त्रों के अनुसार की जाती थी।

गणराज्यों की व्यवस्थापिका शक्ति की राज्य के अंगों से अलग रखा गया था। गणराज्यों की सर्वोच्च सत्ता वैधानिक रूप से तो विधि में निहित थी और राज्य का कार्य विधि को क्रियान्वित करवाना था। वास्तविक रूप से केन्द्रीय समिति (राज्य सभा) ही सर्वोच्च राजनीतिक व्यवस्था थी।[13] गणराज्यों की जनता द्वारा निर्मित होने के कारण इसका उत्तरदायित्व जनता के प्रति होता था। राज्य सभा की सत्ता राजा से भी उच्च थी। उसे समस्त प्रशासनिक अधिकार प्राप्त थे। राज्यसभा अथवा केन्द्रीय समिति को शासन व्यवस्था करने सम्बन्धी अंतिम निर्णय लेने का अधिकार

था प्रशासकीय अधिकार राजा के हाथ में होता था। जो युद्ध के समय सेनापति के दायित्व का निवाह करते थे।[14]

प्राचीन भारतीय गणराज्यों को संगठन व्यवस्था आधार पर दो भागों में बांटा जा सकता हैप्रथम वे गणराज्य जिनमें द्वि–सदनात्मक व्यवस्थापिका होती थी, तथा द्वितीय वे गणराज्य जिनमें केवल एक ही प्रतिनिधि सभा होती थी। गणराज्यों में सामान्यतया कुलीनतंत्रात्मक व्यवस्था कायम थी अर्थात प्रतिनिधि सभा में प्रत्येक कुल का केवल एक ही सदस्य भाग लेता था। बौद्धकाल के गणराज्यों में प्रतिनिधित्व पर्याप्त सीमित हो गया था। लिच्छिवि गणराज्य में 7707 लिच्छिवि कुलों को प्रतिनिधितत्व प्राप्त था। इनमें से प्रत्येक प्रत्येक शासक (राजा) होने का अधिकारी था, उनमें से ही राजा, उपराजा, सभापति, उपसभापति, सेनापति ओर भाण्डागारिक बनते थे। जो प्रमुख शासनाधिकारी थे।

गणराज्यों की संगठन व्यवस्था को बौद्ध संघों की संगठन व्यवस्था के परिप्रेक्ष्य में देखा जा सकता है। बौद्ध संघों की संगठन व्यवस्था निश्चित रूप से सदियों पूर्व से अस्तित्व में रहे गणराज्यों की संगठन व्यवस्था पर आधारित थी। जिसमें व्यापक रूप से निवांचन प्रणाली थी।[16]

बौद्ध साहित्य में तत्कालीन गणराज्यों के संगठन के सम्बन्धित जो सूचना प्राप्त होतीं हैं उसके आधार पर कहा जा सकता है कि गणराज्यों की जनता को पहले कुलों में विभक्त किया जाता था और फिर प्रत्येक कुल का एक प्रतिनिधि, राज्यसभा का सदस्य बनता था। गृहपति, कुलपति का चुनाव करते थे और कुलपति राज्य सभा के सदस्य हुआ करते थे। गणराज्यों की संगठन व्यवस्था बहुत कुछ बौद्ध संघों की संगठन व्यवस्था से मिलती थी। गणराज्यों में शासन की सल्व्च सत्ता को केन्द्रीय समिति को सौंपा गया था। जिसकी सदस्य संख्या विभिन्न गणराज्यों में अलग–अलग थी। समिति का संगठन एक संघागार में किया जाता था।[16] केन्द्रीय समिति द्वारा मंत्रीमण्डल के सदस्यों और सेनानायकों का चयन किया जाता था। विदेश नीति का निर्धारण इस समिति द्वारा किया जाता था। संकट के समय समिति के प्रमुख सदस्यों को दूत बनाकर भेजा जाता था।[17] गणराज्यों के मंत्रीमण्डल के सदस्यों की संख्या निश्चित नहीं थी। गणराज्यों में स्वायत्त शासन की महत्व दिया

जाता था। गणराज्यों में न्याय व्यवस्था पर्याप्त संगठित थी। कौटिल्यीय अर्थशास्त्र में गणराज्यों की न्याय व्यवस्था की प्रशंसा की है।[18]

x.kjkT;k dk lafo/kku

विभिन्न गणराज्यों के संविधान भिन्न–भिन्न थे, क्योंकि प्रत्येक संविधान उनकी आवश्यकताओं और परिस्थितियों के आधार पर निर्मित किये गये थे। बहुसंख्यक गणराज्यों में एकात्मक शासन पद्धति थी, किन्तु लिच्छिवि संघ कई स्वायत्तता प्राप्त जनों का संघ था। प्रत्येक गणराज्य का एक अध्यक्ष या प्रमुख होता था। जिसे वैदिक साहित्य में गणपति, गणस्य राजा भी कहा गया है। गणराज्य का मुखिया या प्रमुख एक निवांचित राजा होता था। जो राज्य का प्रधान होता था। लिच्छिवि संघ में भी राज्य का एक निवांचित अध्यक्ष (प्रमुख) होता था। जो संघ सभा का सभापति रहता था और राजा की उपाधि धारण करता था। कुछ राज्यों में शासन सत्ता राजकुलों में निहित थी।

गणराज्यों के संविधान की विवेचना करते हुए डॉ. जायसवाल तथा अन्य विद्वान मानते है कि कुछ गण राज्यों में कार्यपालिका की भांति द्वितीय आगार अथवा वृद्धजनों के आगार भी अस्तित्व में थे।[19] ग्रीक लेखकों के अनुसार लिच्छिवि संघ में सम्मिलित पतल गणराज्य में वृद्ध–परिषद् के हाथों में सर्वोच्च सत्ता थी और अम्बष्ठ गणराज्य में भी वृन्द्रजनों की परिषद को महत्व दिया जाता था।[20] गणराज्य की संगठन व्यवस्था से विद्वानों ने अनुमानित किया है कि गणराज्यों में कार्यपालिका के रूप में गण के प्रमुखों या प्रधानों की एक मंत्रीपरिषद (केबिनेट) होती थी, जिनमें महत्वपूर्ण निर्णय लिए जाते थे। केन्द्रीय समिति ही सम्भवतः मंत्रिमण्डल के सदस्य नियुक्त करती थी। मंत्रियों का चुनाव सम्भवतः कुछ प्रतिष्ठित कुलों के प्रमुखों से ही होता था।

गणराज्यों में संघसभा या विधायिका होती थी। जिसमें बहुत बड़ी संख्या में सदस्यगण सम्मिलित होते थे। पाणिनि के अनुसार गणसभ (संघ सभा) में वे समस्त क्षत्रिय होते थे, जो भीतरी शासन के लिए चुने जाते थे और राजन्य कहलाते थे। संघ सभा (गणसभा) एक सार्वजनिक भवन संघागार में नियमित होती थी जो कि राजधानी में होता था।'

गणराज्यों में कुल न्यायालय अस्तित्व में थे। कुल न्यायालयों के निर्णयों की अपील गणन्यायालय में होती थी।[21]

महाभारत के अनुसार गणशासन में सभी लोग समान माने जाते थे। गणराज्यों के अधीन लोगों को समान अधिकार प्राप्त थे। गणराज्य में कठोर अनुशासन का पालन किया जाता था। महाभारत में संघीय गणराज्यों का विवरण मिलता है जिनका संगठन दो या दो से अधिक छोटे–छोटे गणराज्यों के संघ में सम्मिलित होने से होता था। जैसे– अंधक, वृष्णिसंघ, वज्जि संघ आदि।[22] संघ की सभा में एकत्र होकर संघ के सदस्य शासन संबंधी विषयों पर विचार करते थे और बहुमत से निर्णय लेते थे।[23] इसी निर्णय के अनुसार राज्य का कार्य सम्पादित होता था।

x.kjkT;k e¡ 0;oLFkkfidk lHkkvk dh dk;çkyh

गणराज्यों को शासन व्यवस्था के विषय में हमारे पास अधिक सामग्री उपलब्ध नहीं हैं। बौद्ध साहित्य भी इन गणराज्यों की शासन व्यवस्था पर मौन है। परन्तु बौद्ध ग्रन्थ में हमें उनके धार्मिक संगठनों की व्यवस्था, प्राप्त हो जाती है। गणराज्यों की शासन प्रणाली का मूल आधार, पूर्ण रूपेण बौद्ध संघीय व्यवस्था पर आधारित था। अगर इसी अवस्था को तत्कालीन गणराज्यों की पद्धति मान लें तो अनुचित न होगा। इतनी कम जानकारी होते हुए भी हम कुछ साक्ष्यों से गणराज्यों की शासन प्रणाली ज्ञात कर उसका उल्लेख निम्न प्रकार से कर सकते हैं :–

1- dUæh; lfefr

गणों या संघों की सवाँच शासन समिति उनके केन्द्रीय स्थान पर होती थी। शासन की सर्वोच्च सत्ता एवं शक्ति केन्द्रीय समिति में निहित हुआ करती थी। केन्द्रीय समिति की सदस्य संख्या विभिन्न गणराज्यों को अपनी जनसंख्या पर आधारित हुआ करती थी। जैसे लिच्छिवि गणराज्य की समिति सदस्य संख्या 7707 व्यक्ति थे जिन्हें 'राजा' कहकर अभिहित किया जाता था। इसी प्रकार यौधेय गणराज्य की समिति में 5000 सदस्य का उल्लेख हमें मिलता है। सम्भवतः ये सदस्य विभिन्न पदों पर नियुक्त किए जाते थे।[24] इनमें राजा उपराजा, सेनापति,

भाण्डागारिक, राजदूत आदि पदों का उल्लेख मिलता है। यह स्पष्ट नहीं कि सम्पूर्ण सदस्य संख्या अधिवेशन में भाग लिया करती थी अथवा कुछ प्रमुख व्यक्ति ही भाग लेते थे। केन्द्रीय समिति मंत्रिमंडल की नियुक्ति, सेनापति का निर्वाचन, विदेशी नीति का निर्धारण आदि कार्य करती थी। इस प्रकार गणराज्यों में केन्द्रीय समिति, सर्वाधिक महत्वपूर्ण एवं प्रभावशाली संस्था थी। केन्द्रीय समिति का प्रधान गणाध्यक्ष अथवा राजा होता था।

2- ef=e.My

गणराज्य के शासकीय कार्यों की देखभाल के लिए 'मंत्रिमण्डल' होता था। गणराज्यों में मंत्रिमण्डल का विशेष प्रभाव था। शासन समिति के सदस्यों की संख्या सहस्त्रों तक होती थी, किन्तु मंत्रिमण्डल के सदस्य साधारणतया 20 से कम ही होते थे। मंत्रिमण्डल के आकार तथा उनकी सदस्य संख्या में भी भिन्नता पाई जाती थी। मंत्रिमंडल के गठन हेतु कोई निश्चित सिद्धांत नहीं था। लिच्छिवि गणराज्य में 9 सदस्यों के मंत्रीमंडल का गठन किये जाने का उल्लेख प्राप्त होता है। जबकि मल्लों का मंत्रीमण्डल चार सदस्यों वाला था।[25] विदेह राजसंघ का 18 सदस्यों वाला मंत्रीमण्डल था। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि मंत्रिमण्डल में 4 से कम व 20 से अधिक सदस्य नहीं होते थे। मंत्रिमंडल की नियुक्ति केन्द्रीय समिति किया करती थी व मंत्रीमण्डल के कार्यों का निरीक्षण करती थी।[26] वैदेशिक विभाग का मंत्री सबसे बढ़कर माना जाता था। उसी के ऊपर गण का अस्तित्व विशेष रूप से अवलम्बित होता था। राजकीय आय–व्यय का अधिष्ठाता मंत्री राज्य की समृद्धि के साथ–साथ कोष की वृद्धि की योजनाओं को कार्यान्वित करता था। न्याय मंत्री राज्य में धार्मिक व्यवहार का आयोजन करता था। राज्य में शांति रखने के लिये अलग मंत्री नियुक्त होता था। वार्ता (कृषि, पशुपालन और व्यापार) के लिए एक या अनेक मंत्री होते थे।

मंत्रीमण्डल का प्रधान गणाध्यक्ष अथवा गणप्रमुख (राजा) होता था।[27]

3- Kkfl r

जिस विषय पर विचार करना होता था संघ में उसे प्रस्ताव के रूप में प्रस्तुत किया जाता था। इस अधिवेशन की सूचना अधिवेशन से एक दिन पूर्व देनी पड़ती

थी। इसी सूचना को ज्ञप्ति कहा जाता था। सूचित करने के उपरान्त नियत तिथि पर प्रस्ताव पर वाद विवाद आमंत्रित किए जाते थे। विरोधियों को असहमति प्रकट करनी पड़ती थी। इस प्रकार प्रस्ताव तीन बार स्वीकृत किया जाता था। प्रस्ताव पर मतदान होता था। निर्णय बहुमत के आधार पर घोषित किया जाता था।[28]

4- ernku çkyh

बौद्ध ग्रन्थों में मतदान के लिए 'छन्द' शब्द का प्रयोग हुआ है। जिसका शाब्दिक अर्थ होता है, मतदान हेतु स्वतंत्रता। अनुपस्थित सदस्यों का मत भी सदस्यों की अनुमति में मान लिया जाता था। मत लेने के तीन ढंग थे – 1. गुह्यक– जब मतदान अप्रकट रूप से होता था, 2. सकर्णजपकं जब सदस्य मत संग्रह करने वाले के कान (कर्ण) में अपना मत कहता था, 3. विवतक– जब मत खुले रूप से लिया जाता था।[29]

5- 'kykdk ,oa 'ykdkxkgd

बौद्ध संघों में प्रचलित मतदान पद्धति से यह ज्ञात होता है कि मतदान के पूर्व संकेत के अनुसार अलग–अलग रंग की शलाकाएँ विभिन्न मतों की अभिव्यक्ति के लिए दी जातीं थीं। ये लाल, सफेद व हरे रंग की होतीं थीं। जिसका मत, प्रस्ताव के पक्ष में होता था, वह हरी शलाका ऊपर उठता था और विपक्ष वाले लाल शलाका ऊपर उठाते थे। दोनों पक्ष वाले सफेद शलाका ऊपर उठाते थे। इन शलाकाओं को एकत्रित करके वाले व्यक्ति का शलाकाग्राहक कहते थे।[30]

एकत्रित शलाकाओं की गणना गण प्रमुख करता था और फिर इनकी संख्यानुसार (बहुमत) के अनुसार गण प्रमुख निर्णय देता था। श्लाकाग्राहक का निर्वाचन सर्व सम्मति से स्वीकृत होता था। श्लाकाग्राहक पक्षपात रहित होता था। शलाका ग्राहक में जिन विशेष गुणों की आवश्यकता होती थी, बुद्ध के अनुसार वह निरपेक्ष हो, द्वेषरहित हो, मूख न हो, भयभीत न हो, और जानता हो कि कौन मत लिए गये हैं और कौन नहीं।[31]

6- x.kiwj[k

गणराज्य का एक निवांचित अध्यक्ष (गणप्रमुख) होता था। यह 'राजा' की उपाधि धारण करता था।[32] गणप्रमुख ही अधिवेशन की अध्यक्षता करता होगा तथा

सभा की सम्पूर्ण कार्यवाही उसी के नियंत्रण में की जाती होगी। गण। प्रमुख की सहायता हेतु श्लाकाग्राहक व अन्य अधिकारी होते थे। जो सदस्यों की बैठने व अन्य कार्यों में गण प्रमुख को सहायता देते होंगे।

7- x.kiwfr

अधिवेशन की कार्यवाही संचालन हेतु कम से कम सदस्य संख्या जिसकी उपस्थिति आवश्यक होती थी। जो गणपूर्ति कहलाती थी।[33] वर्तमानकाल के 'कोरम' शब्द से इसकी तुलना की जा सकती है। गणपूर्ति के विषय का दृढ़तापूर्वक पालन किया जाता था। जायसवाल के अनुसार, सदस्यों की संख्या पूरी करने के लिए एक व्यक्ति की जबावदारी होती थी। लगभग गणपूर्ति की संख्या 20 थी। 20 से कम व्यक्तियों में बैठक नहीं हो सकती थी। गणपूर्ति के अभाव में अधिवेशन की कार्यवाही भंग हो जाया करती थी।[34]

8- dk;lokgh fyfic)

अधिवेशन की समस्त कार्यवाही लिपिबद्ध की जाती थी। लिपिबद्ध करने वाले को लेखक कहा जाता था। इसका कार्य सभी प्रस्तावों तथा भाषणों को लिपिबद्ध करना होता था।[35] वक्ताओं को अपने विचार अभिव्यक्त करने की पूर्ण स्वतंत्रता थी। इसका अर्थ कदापि यह नहीं था। कि वक्त गण आवेश में आकर गद्दी बात या बुरा आचरण करे। ऐसा करने पर उन्हें दोषी समझा जाता था।

fu"d"k

प्राचीन भारतीय गणराज्य प्रशासकीय दृष्टि से सुव्यवस्थित थे। सुव्यवस्थित शासन तंत्र में राज्य कर्मचारी भी संतुष्ट एवं सुव्यवस्थित रहते थे। गणराज्यों में विकसित प्रजातांत्रिक गुण विद्यमान थे।

अतः प्राचीन भारत में श्रेष्ठ गणतंत्र या जनतंत्र व्यवस्था पाई जाती थी। जिसका संगठन व संचालन सर्वोत्तम था।

x.kjkT;k d x.k&nk"k

प्राचीन भारतीय गणराज्यों की उपयुक्त व्याख्या से स्पष्ट है कि गणराज्य अपनी प्रवृत्ति, संगठन तथा संचालन क्षेत्र में निम्न गुणों से युक्त थे –

1- ijLikfjd lgok Hkkko

इन गणों में आपस में एक दूसरे की सेवा करने की प्रवृत्ति थी और वे एक दूसरे के प्रति उत्तम व्यवहार करते थे। सामान्यतः एक दूसरे के प्रति सहानुभूति की भावना रखते थे। व्यवहार कुशल होने के साथ–साथ वे सुख–दुख में बराबर एक दूसरे की सहायता करते थे।

2- vif{kr fu;=.k

ये गण आपस में अपने भ्राताओं एवं पुत्रों पर नियंत्रण भी करते थे और उन्हें अनुशासित कर गुणवान बनाते थे।[36]

3- mÙke U;k; 0;oLFkk

गणराज्यों को न्याय व्यवस्था अति उत्तम थी। कठ एवं सौभूति गणों की न्याय व्यवस्था की भूरि–भूरि प्रशंसा यूनानी लेखकों द्वारा की गई है। लिच्छिवि गणराज्य की न्याय व्यवस्था सुसंगठित थी।

4- vkfFkd lEiUurk

गणों के पास पर्याप्त धन था। जिससे वह अपनी प्रशासन कुशलता पूर्वक चलाते थे। सभी गणमान्य लोगों के सहयोग से पर्याप्त कोष जमा रहता था। गणराज्यों की आर्थिक सुसम्पन्नता से ही वे फलीभूत हुए।

5- lekurk dk i:lkj

गणों में निवास करने वाले सभी व्यक्तियों की जाति तथा कुल के आधार पर समान समझा जाता है। कोई जातिगत भेदभाव आदि नहीं था। इसलिए सभी लोगों में अच्छे सम्बन्ध थे। उनमें उद्योग, बुद्धि तथा धन आदि अन्तर होने पर भी शासन में उनकी स्थिति एक समान होती थी।[37]

6- mÙke lU; 0;oLFkk

गणों के सारे निवासी उत्तम कोटि के योद्धा थे। इस सेना में नागरिकों का समावेश था तथा वे अन्य भतीं किये गये सैनिकों से काफी अच्छे थे। ये गण यदि किसी अन्य शक्ति से विजय पाने के उद्देश्य से अपना संघ बनाते थे। तो उस समय

ये लोग अजेय हो जाते थे। पाणिनी के आयुधजीवि तथ कौटिल्य के शस्त्रोपजीवि संघ के विवरण से यह स्पष्ट होता है कि गणराज्य के सभी नागरिक सेना के अंग माने जाते थे। प्राचीन भारत के यौधेय, क्षुद्रक तथा मालव गण अपनी वीरता और सैन्य शक्ति के लिए विख्यात थे।[38]

de'kh yrk

गणराज्य के निवासी गण अपनी प्रगति के लिए सतत प्रयत्नशील रहते थे। प्रशासन के अतिरिक्त वे कृषि, पशुपालन और वाणिज्य में काफी रूचि लेते थे। वे कर्मशीलता के गुण से युक्त थे।

उपर्युक्त गुणों के साथ–साथ गणराज्यों के लोग अनुशासित, कर्तव्यनिष्ठ व आज्ञाकारी होते थे। प्रशासन में सुयोग्य व्यक्ति की नियुक्ति होती थी। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी योग्यता व क्षमतानुसार उन्नति करने का अवसर मिलता था। महाभारत के अनुसार गण प्रमुख के लिए प्रज्ञा, पौरूष, उत्साह, अनुभव, शास्त्र का ज्ञान आदि गुणों से युक्त होना आवश्यक बताया गया है।[39]

x.kjkT;ksa dk nks"k

गणों में गुणों के साथ दोष भी विद्यमान थे। वे इस प्रकार है :–

1- ykHk vkj vkilh QwV

गणों में इसमें धन के प्रति काफी लोभ होता था और इसी कारण इनके शत्रु इनको सरलता पूर्वक धन देकर अपने में मिला लेते थे। इसके अतिरिक्त लोभ वश वे आपस में भी एक दूसरे के धन हड़प जाने को तैयार हो जाते थे और इसी से उनमें फूट पैदा हो जाती थी और यह उनके पतन का कारण था। महाभारत के अनुसार भेद (आपसी फूट) गणराज्यों के नाश का सबसे बड़ा कारण होता था।[40]

2- y?kq vkdkj

गण अपने आकार में लघु होते थे और इस कारण उनको बड़े और शक्तिशाली राज्यों द्वारा सरलता पूर्वक विजित किया जा सकता था।

3- e=.kk dh xkiuh;rk dk vHkko

गणों में सदस्यों की अधिक संख्या होने के कारण उनमें मंत्रणा को गुप्त रख पाना बड़ा कठिन होता था। उनका यही दोष उनके विनाश का कारण बनता था।'

4- "kM;=

इनको पतित करने में षड़यंत्रों की भी एक महत्वपूर्ण भूमिका हुआ करती थी। अपने गुप्तचरों द्वारा षड़यंत्र करवाकर कई स्वार्थी लोग अपने उद्देश्यों में सफल हो जाते थे और षड़यंत्रों से गणों का पतन होने लगता था।

5- ijEijkxr çfrfuf/kRo

गणों की राजनीतिक संस्थाओं में वंश परम्परागत प्रतिनिधित्व ने निवांचित प्रतिनिधित्व का स्थान ले लिया था, जिससे राजतंत्रीय दोष उत्पन्न हो गये थे।

इनकी दुर्बलताओं के विषय में हम कह सकते हैं कि इनका आकार एक तो छोटा था। दूसरे ये और भी छोटे होने का प्रयास करते थे। उनके राज्य संचालकों में परस्पर ईर्ष्या होती थी। महाभारत के शान्ति पर्व में कहा गया है कि गणी के पतन के दो कारण थे– लोभ व संघर्ष।

x.kjkT;ksa dh j{kk ds mik;

गणराज्यों के महाभारत में वर्णित उपयुक्त दोषों के रहते हुए भी प्राचीन काल में गणराज्यीय शासन प्रणाली को अपनाया गया और इसकी रक्षा के लिए निम्नलिखित उपाय सुझाव गये –

1. इनको आपस में शास्त्र धर्म की मर्यादाओं का पालन करना चाहिए। परन्तु गणपतियो के भ्राताओं एवं पुत्रों को विनीत बनने का उपदेश दिया जाना चाहिए।
2. गणों की अपनी मंत्रणा को गुप्त रखना चाहिये और राजकोष का सुव्यवस्थित रूप से संचालन करना चाहिये।
3. शूरवीर और कर्तव्यनिष्ठ व्यक्तियों का सम्मान किया जाना चाहिये।

4. गण की उन्नति गण के भले आदमियों पर निर्भर है। अतः गणपति को उन व्यक्तियों की बात को अवश्य मानना चाहिये।
5. गणों को पारस्पारिक फूट से बचना चाहिये। क्योंकि यही एक ऐसा शत्रु हे जो सबसे अधिक गणी के पतन का कारण होता है।
6. गणों को अपनी आन्तरिक फ्ट से अपनी रक्षा करनी चाहिये।
7. गणों की सबसे अधिक रक्षा संघ में समझी गई अतः उनको संघ बनाकर रहना चाहिये।
8. गण के प्रधान को काफी सोच समझ कर आपसी मुकदमों तथा अन्य मामलों को उचित रूप से निर्णात करना चाहिये।

कौटिल्य के अनुसार कि गणराज्यो को सदा संघों में एकत्रित रहना चाहिये। जिसे वह शक्तिशाली हो सकें। धार्मिक तथा सामजिक मामलों का न्याय सभा द्वारा किया जाता। सभा के प्रमुख लोगों को चाहिये कि वह उचित न्याय कर अपराधी को दण्ड दे। गणों में आपसी फूट, ईष्या, लोभ आदि कारण हैं, इनके कारण ही गणतंत्रात्मक सत्ता से राजतंत्रात्मक जन्म लेती है। इसलिये कौटिल्य ने कहा कि गणों को उन्नति के मार्ग पर चलते हुए। आपसी संगठन बनाना चाहिये।

x.kjkT;k dk egRo

गुप्त साम्राज्य के उदय तक सभी गणराज्य काल के ग्रास हो गये। परन्तु उन्होंने प्राचीन काल के इतिहास में अपना स्थायी प्रभाव अंकित किया। भारतीय इतिहास की, गणराज्य अनमोल निधि हैं, जिस पर हम गर्व कर सकते हैं तथा नई सभ्यता के पश्चिमी देशों के समक्ष सर्व अग्रणी बन सकते हैं। प्रत्येक मानक संख्या की भांति हिन्दु गणराज्य में न्याय अनुशासन के विषय में उच्च कोटि की भावनायें प्रचलित थीं। गणों में समानता की भावना थी। हिन्दु गणतंत्र आर्थिक रूप से समृद्धशाली थे। वे सैनिक दृष्टि से मजबूत तथा राजनीतिक इकाई के रूप में थे। परन्तु उनका छोटा आकार उनकी निर्बलता की प्रथम सीढ़ी थी। फिर वे अपने आन्तरिक संघर्ष तथा द्वेष के भी शिकार होते थे। इनके बावजूद भी भारत में

गणराज्यों का जीवनकाल दीर्घ समयावधि तक चला मालव, यौधेय, लिच्छिवि आदि गणराज्यों का अस्तित्व 1000 वर्ष से भी अधिक रहा।

fu"d"k

सम्पूर्ण विवेचना से स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में राजतंत्र के साथ गणतंत्रात्मक व्यवस्था भी थी। गणराज्यों में सम्पूर्ण जनता की सहभागिता होती थी और सभी मिलकर राज्य का संचालन करते थे। सभी लोग इच्छानुसार बोलने के लिये स्वतंत्र थे। गणों में पर्याप्त कोष, सभी लोग सैनिक हुआ करते थे। गणतंत्रों की स्थिति प्राचीन काल में काफी सुदृढ़ और संगठित थी। ये गणराज्य बड़े ही समृद्ध एवं प्रशासकीय दृष्टि से सुव्यवस्थित थे। इनकी प्रशासकीय और सैनिक क्षमता ही थी कि इन्होंने सिकन्दर को भारत से लौटने के लिए विवश कर दिया। कुषाणों को भारत से निष्कासित यौधेय गणराज्य ने ही किया था। इन गणराज्यों के नागरिकों में अपने गणराज्य की स्वतंत्रता व देशप्रेम सराहनीय था। गणराज्यीय व्यवस्था में अनेक क्षेत्रों में उल्लेखनीय प्रगति हुई– व्यापार, व्यवसाय, उद्योग, वाणिज्य में बहुत उन्नति हुई। इनमें न्याय प्रकार उत्कृष्ट थे। प्रजा की भावनाओं को सर्वोच्च स्थान प्राप्त था। यदि गुप्तकाल में समुद्रगुप्त तथा चन्द्रगुप्त द्वितीय ने इनका विनाश न किया होता तो राजपूत युग में मुस्लिम आक्रांता भारत में प्रविष्ट ही नहीं हो पाते और भारत कर इतिहास ही दूसरा होता।

I UnHk'

1. अल्तेकर, ए.एस.स्टेट एंड गवर्नमेन्ट इन ऐंशियेंट इण्डिया, इलाहाबाद, पृ. 84
2. शर्मा, विजयेन्द्र, प्राचीन भारत में जनमत, नई दिल्ली, 1991, पृ. 144
3. वही,
4. शर्मा, हरीशचन्द्र, प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचार एवं संस्थाएं, जयपुर, 1970, पृ. 328
5. अल्तेकर, ए.एस., प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, इलाहाबाद, संवत् 2026, पृ. 89–94
6. देखिए, शर्मा, हरीशचन्द्र, पूर्वोल्लिखित, पृ. 222
7. शरण, परमात्मा, प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थाएं, मेरठ, 1977, पृ. 383
8. जायसवाल, के.पी., हिन्दु पॉलिटी, कलकत्ता, 1934, पृ. 71–72
9. वाजपेयी, अम्बिकाप्रसाद, हिन्दू राज्यशास्त्र, प्रयाग, संवत् 2006, पृ. 185
10. शर्मा, हरीशचन्द्र, पूर्वोल्लिखित, पृ. 328–329
11. वही, पृ. 334
12. वही,
13. यादव, सुषमा एवं शर्मा, रामअवतार, भारतीय राज्य उत्पति एवं विकास, दिल्ली, 2000, पृ. 129
14. वही,
15. मिश्र, सुखदेव, मध्यप्रदेश के प्राचीन गणराज्य, सागर, 1995, पृ. 101
16. बंसल, कैलाश चन्द्र, हिन्दू राजशास्त्र, कानपुर, 1972, पृ. 93
17. मिश्रा, सुखदेव, पूर्वोल्लिखित
18. अर्थशास्त्र, पृ. 379

19. देखिए, शरण, परमात्मा, पूर्वोल्लिखत, पृ. 398.

20. मजूमदार, आर.सी. अनु. वाजपेयी के.डी. प्राचीन भारत में संघटित जीवन, सागर, 1966, पृ.230

21. चौधरी, राधाकृष्णन, प्राचीन भारतीय राजनीति और शासन व्यवस्था, 1973, पृ. 231

22. महाभारत, शांति पर्व, 107, 21

23. शरण, परमात्मा, पूर्वोल्लिखित, पृ. 403

24. यादव, सुषमा एवं शर्मा, रामअवतार, पूर्वोल्लिखित, पृ. 129

25. अल्तेकर, ए.एस., पूर्वोल्लिखित, पृ. 108–109

26. यादव, सुषमा एवं शर्मा, रामअवतार, पूर्वोल्लिखित, पृ. 131

27. वही, पृ. 132

28. शरण, परमात्मा, पूर्वोल्लिखित, पृ. 403

29. वही, पृ. 403–404

30. अल्तेकर, ए.एस., पूर्वोल्लिखित, पृ. 95 तथा दुबे, अखिलेश्वर प्रसाद, बौद्ध राज्यदर्शन, नई दिल्ली, 1988,

31. वाजपेयी, अम्बिका प्रसाद, पूर्वोल्लिखित, पृ. 194

32. शरण, परमात्मा, पूर्वोल्लिखित, पृ. 396

33. वाजपेयी, अम्बिका प्रसाद, पूर्वोल्लिखित, पृ.

34. जायसवाल, के.पी., पूर्वोल्लिखित, पृ. 95–96

35. मिश्र, सुखदेव, पूर्वोल्लिखित, पृ. 109

36. यः पुत्रो गुण समापन्नो माता पित्रोर्हितः सदा।

    सर्वमहति कल्याण कनीयानपि सत्तमः। – महाभारत, आदिपर्व, 84/31

37. सिद्धान्तालंकार, विद्यालंकार, धर्मदत्त जी, प्राचीन भारत में स्वराज्य, गुरुकुल काँगडी, पृ. 153

38. मिश्र, सुखदेव, पूर्वोल्लिखित, पृ. 71

39. महाभारत, शांति पर्व, 107/20–21

40. भेदाच्चैव प्रदानाच्च भिन्द्यन्ते रिपुभिर्गाणाः।

महाभारत, शांतिपर्व, 107/31

41. भेदमूली विनाशों हि गणानामुप लक्षये।

मंत्र संवरण दुःख बहुनामिति में मतिः।

महाभारत, शांतिपर्व, 107/8

v/;k;&4

vUrjkT;h; lEcU/k

¼e.My fl)kr] "kkMxq.; fl)kr ,oa nr 0;oLFkk½

हिमालय से समुद्रपर्यंत तथा अरूणाचल से कच्छ तक विस्तृत भारतीय भू–भाग प्राचीन काल में छोटे–छोटे राज्यों में विभक्त था। इस विस्तृत भू भाग में सांस्कृतिक एकता तो विद्यमान थी किन्तु सम्पूर्ण भारत एक राजनीतिक सूत्र में संगठित नहीं था। मौर्य, गुप्त आदि कतिपय राजवंशों के शासन के अतिरिक्त अन्य कालखण्डों में यहाँ छोटे–बड़े जनपद और राज्य विद्यमान रहे, जिनके मध्य प्रायः संघर्ष चलता रहता था। छोटे–छोटे एवं सम्प्रभु राज्य होते हुए भी वे सभी राज्य एक ही देश अथवा राष्ट्र की विभिन्न इकाईयाँ थे और एक दूसरे को विदेशी राज्य अथवा राष्ट्र नहीं मानते थे। इसलिए प्राचीन भारतीय राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों को अन्तर्राष्ट्रीय की अपेक्षा अन्तर्राज्यीय कहना अधिक उपयुक्त है।

çkphu Hkkjr esa vUrjkt;h; lEcUèkksa dk fodkl &

श्री एच.एल.चटर्जी के अनुसार प्राचीन भारत में राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों का विकास विभिन्न चरणों में हुआ। वैदिक काल में राज्य छोटे और जनजातीय थे। उनके बीच युद्ध भी होते थे और सन्धियाँ भी होती थीं। दस राजाओं का युद्ध इस प्रकार का उल्लेखनीय उदाहरण है। विकास का दूसरा चरण महाकाव्य काल को माना गया है। इस काल में अन्तर्राज्यीय सम्बन्धों के विषय में अनेक महत्वपूर्ण विचार प्रस्तुत किए गये। विकास का तीसरा चरण सिकन्दर के आक्रमण से प्रारम्भ होता है। इस काल में भारतीय राजाओं के विदेशियों के साथ सम्बन्ध स्थापित हुए। चतुर्थ चरण में बौद्ध धर्म और जैन धर्म के प्रभाव में अहिंसा के सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ। विकास का पांचवा चरण पौराणिक युग को तथा गया है।[1]

jkT;ksa dk çdkj ,oa mudh fLFkfr &

प्राचीन भारत में विद्यमान राज्य आकार एवं सामर्थ्य की दृष्टि से एक जैसे नहीं थे। कुछ राज्य विशाल थे तो कुछ लघु। भौगोलिक स्थिति, प्राकृतिक संसाधन तथा तकनीकी विकास के आधार पर भी राज्यों की शक्ति में पर्याप्त अन्तर था।

dkfVY; u jkT;ksa dk fuEufyf[kr rhu çdkj crk;k gS &

1- cyoku jkT; & वे राज्य जो पूर्ण रूप से प्रभुत्व सम्पन्न होते थे, उन्हें इस श्रेणी में रखा गया। उनके अधिपति को सम्राट, अधिराज, एकराट, स्वराट् आदि उपाधियों से विभूषित किया जाता था।

2- lejkT; & वे राज्य जिनकी शक्ति बलवान् राज्यों की अपेक्षा कम होती थी, किन्तु वे पूर्ण स्वतन्त्रता एवं प्रभुसत्ता का उपभोग करते थे। समान शक्ति वाले राज्य परस्पर सम राज्य कहलाते थे।

3- ghu jkT; & वे राज्य जो किसी अन्य शक्तिशाली राजा के प्रभाव में रहते हुए आंशिक प्रभुसत्ता का प्रयोग करते थे, हीन राज्य कहलाते थे। सामन्त एवं करद राजा इस श्रेणी में आते थे और राजाओं की श्रेणी में उनका स्तर निम्न होता था। वे सम्राट को भेंट, उपहार आदि अर्पित करते थे और बदले में शक्तिशाली राजा उनकी रक्षा करता था।

कौटिल्य का मत था कि विजिगीषु राजा को अपने समान और अपने से बलवान् राजाओं के साथ संधि कर लेना चाहिए, किन्तु हीन राज्य के साथ युद्ध करना चाहिए।

प्राचीन भारत के सभी कालखण्डों में उपर्युक्त तीनों कोटियों के राजा विद्यमान रहे। इन राज्यों के मध्य स्वार्थ एवं आपसी मतभेदों के कारण समय–समय पर संघर्ष होता रहता था। इसके साथ ही वैदिक परम्पराओं ने प्राचीन राजाओं के समक्ष एकराट् एवं चक्रवर्ती सम्राट का आदर्श रखा। इस उच्चतम पद की प्राप्ति हेतु भी राजा साम्राज्य विस्तार में संलग्न रहते थे और अन्य राज्यों पर आक्रमण किया करते थे।

e.My fl)kUr &

प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचारकों ने राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों के विषय में एक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, जिसे 'मण्डल सिद्धान्त' कहते हैं। मण्डल सिद्धान्त वस्तुतः शक्ति संतुलन का सिद्धान्त है। इसके प्रणेताओं ने दुर्बल

राज्यों को अपने पड़ौसी शक्तिशाली राज्यों से सावधान रहने को कहा है और सबल राज्यों की विस्तारवादी नीति से अपनी रक्षा हेतु समान या न्यूनाधिक बल वाले राज्यों से मैत्री स्थापित कर ऐसा मण्डल बनाने की सलाह दी है, जिस पर आक्रमण करने का शत्रुओं का साहस ही न हो।[2] शुक्र, कौटिल्य, मनु एवं कामन्दक ने इस सिद्धान्त का विस्तार से वर्णन किया है।

e.My dh eyy ç fr;k &

प्राचीन भारतीय विचारकों ने राज्यों की स्थिति एवं उनके पारस्परिक सम्बन्धों के आधार पर राज्यों के चार प्रकार किये हैं। मनु ने इन चार राज्यों को विजिगीषु, शत्रु, मध्यम और उदासीन कहा है।

foft xh"kq dk jkT; &

मण्डल सिद्धान्त द्वारा जिस मण्डल का निरूपण किया जाता है, उसका केन्द्र एक ऐसा "विजिगीषु (विजय की इच्छा रखने वाला) राजा होता है जो पड़ौस के राज्यों को जीतकर अपने अधीन कर लेने के लिए प्रयत्नशील हो।[4] कामन्दक के अनुसार वह राजा जो अपने राज्य का विस्तार करना चाहता है, राज्य के सातों अंगों से सम्पन्न है, महोत्साही और उद्योगशील है, विजिगीषु कहलाता है।[5]

'k=q jkT; &

कौटिल्य के अनुसार विजिगीषु राजा के राज्य की सीमा से सटा हुआ राज्य शत्रु राज्य या अरि राज्य कहलाता है।[6] प्राचीन भारत में प्रायः सभी राजा विजय के अभिलाषी थे। उनकी सीमाएँ एक दूसरे से सटी होने के कारण उनमें निरन्तर सीमा विवाद चलता रहता था।[7] इसलिए सीमावर्ती राज्य एक दूसरे के प्रति शत्रुतापूर्ण व्यवहार करते थे।

eè;e jkT; &

मध्यम राज्य से आशय ऐसे राज्य से है जिसका राज्य विजिगीषु तथा अरि राज्य की सीमा से सटा हो और जो दोनों अर्थात् विजीगीषु तथा उसके शत्रु को सहायता दे सकता हो या दोनों से युद्ध करने में समर्थ हो।[8]

mnklhu jkT; &

कौटिल्य ने उदासीन राज्य की संज्ञा उस राज्य को दी है जो कि विजिगीषु अरि और मध्यम राज्यों से परे हैं। इस राज्य की क्षमता इतनी होती है कि यदि वह चाहे तो अन्य तीनों प्रकार के राज्यों को पृथक–पृथक या एक साथ सहायता अथवा दण्ड दे सकता है।[9]

y?k e.My &

मनु के मतानुसार विजिगीषु, शत्रु, मध्यम और उदासीन ये चार राज्य मण्डल की मूल प्रकृतियाँ हैं। एक मण्डल में उपर्युक्त चारों श्रेणियों के राज्य होते हैं। कौटिल्य के अनुसार निम्नलिखित 12 राज्य मिलकर एक लघु मण्डल का निर्माण करते हैं।[10]

1. विजिगीषु – राज्य विस्तार के अभिलाषी राजा को विजिगीषु कहते हैं।
2. अरि – विजिगीषु के राज्य की सीमा से सटा राज्य उसका शत्रु होता है, जिसे अरि कहा गया है।
3. मित्र – अरि की सीमा से सटा राज्य विजिगीषु का मित्र होता है। क्योंकि वह 'अरि' का अवश्य ही अरि होगा।
4. अरिमित्र – मित्र को पश्चात् का राज्य शत्रु (अरि) का मित्र होता है। फलतः यह विजिगीषु का शत्रु होगा।
5. मित्र–मित्र – विजिगीषु के मित्र राज्य का मित्र, मित्र–मित्र कहलाता है।
6. अरिमित्र मित्र – विजिगीषु के पडौसी शत्रु राज्य के मित्र का मित्र राज्य, जो मित्र–मित्र राज्य की सीमा पर होता है, अरिमित्र–मित्र कहा गया है।
7. पार्षिर्णग्राह – विजीगीषु के राज्य के पीछे की ओर का पड़ौसी राज्य भी उसका शत्रु होता है, जिसे 'पार्षिर्णग्राह' कहा गया है।
8. आक्रन्द – पृष्ठभाग में पार्षर्णिग्राह के पश्चात् जो राज्य होता है, वह भी विजिगीषु का मित्र होता है, उसे आक्रन्द कहा गया है।

9. पार्षिर्णग्राहासार – आक्रन्द का पड़ौसी राज्य पार्षिर्णग्राह का मित्र होता है, जिसे 'पार्षिर्णग्राहासार' कहा गया है वह भी पार्षर्णिग्राह की भांति विजिगीषु का शत्रु होता है।

10. आक्रन्दासार – पार्षिर्णग्राहासार राज्य को साथ जिस राज्य की सीमा लगती हो उसे 'आक्रन्दासार' कहा गया है, वह आक्रन्द का मित्र होने के कारण विजिगीषु का भी मित्र होता है।

11. मध्यम – मध्यम राज्य वह राज्य है जो विजिगीषु और अरि की सीमाओं से संलग्न तो होता है किन्तु वह दोनों की राजनीति से पृथक रहता है। आवश्यकता होने पर वह उन्हें सहायता अथवा दण्ड देने की स्थिति में होता है।

12. उदासीन – उदासीन वह राज्य होता है जो विजीगीषु अरि तथा मध्यम राज्यों की सीमा से अति दूर होता है तब भी इस राज्य की क्षमता इतनी होती है कि वह इन तीनों प्रकार के राज्यों को पृथक–पृथक या एक साथ अनुगृहीत अथवा दण्डित कर सकता है।

इस प्रकार लघु मण्डल में कुल मिलाकर 12 राज्य होते हैं, जिन्हें बारह राजप्रकृति कहते हैं, इनमें केन्द्रीभूत स्थिति विजिगीषु की होती है। इन राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों के दो मुख्य आधार हैं –

1. प्रत्येक पड़ौसी राज्य शत्रु होता है।

2. शत्रु का शत्रु मित्र होता है।

ogn e.My &

उपर्युक्त बारह राज्यों में से प्रत्येक राज्य की निम्नलिखित पाँच द्रव्य प्रकृतियाँ होती हैं–

1. अमात्य, 2. जनपद, 3. दुर्ग, 4. कोश, 5. दण्ड (सेना)

इस प्रकार 12 X 5 = 60 द्रव्य प्रकृतियाँ हुयीं तथा उपर्युक्त बारह राजप्रकृतियों को सम्मिलित कर लेने पर (60 + 12 = 72) मण्डल की कुल बहत्तर प्रकृतियाँ हो जाती हैं।

मनु के अनुसार ये बहत्तर प्रकृतियाँ मिलकर एक वृहद् मण्डल का निर्माण करती है।[11]

महाभारत के शांतिपर्व में भी मनु के आधार पर 12 राजाओं के लघु मण्डल एवं बहत्तर प्रकृतियों के वृहद् मण्डल का विवेचन मिलता है।[12]

कौटिल्य ने भी अर्थशास्त्र में बारह राजप्रकृतियों और साठ द्रव्य प्रकृतियों से बने राजमण्डल का वर्णन किया है।[13] कौटिल्य के अनुसार विजिगीषु शत्रु, मध्यम एवं उदासीन राजा मण्डल की मूल प्रकृतियाँ हैं। इन चारों राजाओं के चार चक्र निम्नानुसार बनते हैं[14]–

चक्र 1 – जिसमें विजिगीषु उसका मित्र और मित्र का मित्र होते हैं।

चक्र 2 – जिसमें शत्रु, उसका मित्र और मित्र का मित्र होते हैं। चक्र 3 – जिसमें मध्यम राजा, उसका मित्र और मित्र का मित्र होते हैं।

चक्र 4 – जिसमें उदासीन राजा, उसका मित्र और मित्र का मित्र होते हैं।

चूंकि प्रत्येक राजा प्रभुता के पाँच तत्व रखता है, यथा अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोश और दण्ड (सेना)। इसलिए प्रत्येक चक्र में तीन राजा (राजप्रकृतियाँ) और पेंद्रह प्रभुता के तत्व (द्रव्य प्रकृतियाँ) मिलकर अठारह प्रकृतियाँ होती है। इस प्रकार चारों चक्रों में बहत्तर (18×4 = 72) प्रकृतियाँ (12 राजप्रकृतियाँ एवं 60 द्रव्य प्रकृतियाँ) हो जाती हैं, जो एक वृहद् राजमण्डल की रचना करती हैं।[15]

प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचारकों द्वारा प्रस्तुत यह मण्डल सिद्धान्त राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों के लिए सैद्धान्तिक आधार निर्मित करता है। किसी भी राजा के लिए विजय अभियान प्रारम्भ करने अथवा कृटनीतिक सम्बन्ध स्थापित करने के पूर्व इन सभी 72 प्रकृतियों के मण्डल पर विचार करना आवश्यक है। इसी सिद्धान्त के आधार पर मनु ने निर्देश दिया है कि विजयेच्छुक राजा अपने साधनों को इस प्रकार व्यवस्थित करे कि अन्य कोई भी राजा चाहे वह मित्र हो या शत्रु, उसकी

हानि न कर सके और न ही उससे श्रेष्ठ हो सके।[16] स्वयं विजिगीषु को यह प्रयास करना चाहिए कि वह इतना शक्तिशाली हो जाये कि अन्य राजाओं पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर सके। कौटिल्य के अनुसार मण्डल एक ऐसा चक्र है, जिसमें फसाकर बलवान् राजा का भी उच्छेदन या पीड़न किया जा सकता है।

e.My e çHkko c<ku d mik; %

मनु के अनुसार मण्डल की विभिन्न प्रकृतियों में स्वयं को श्रेष्ठ और शक्तिसम्पन्न लेना चाहिए। मनु स्मृति में इन चार उपायों का उल्लेख करते हुए यह व्यवस्था दी गई है कि – विजियाभिलाषी राजा को चाहिए कि वह दुष्ट पुरूषों को साम आदि उपायों से अपने वश में करे।[16] यदि वह प्रथम तीन उपायों (साम, दान और भेद) से वश में न हो तो चौथे उपाय दण्ड से उनका दमन करना चाहिये।[17]

इन चार उपायों का विवरण निम्नलिखित है –

1- lke & शत्रु अथवा रूष्ट मित्र को समझा–बुझाकर विनयपूर्वक अपने अनुकूल करना साम उपाय कहलाता है प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचारकों का कथन है कि जहाँ तक सम्भव हो राजा को साम–उपाय ही अपनाना चाहिए।

2- nku & शत्रु अथवा रूष्ट मित्र को शान्त करने के लिए भूमि, धन, धान्य आदि का दिया जाना दान उपाय कहलाता है। दानवान राजा शत्रुओं को शीघ्र जीत लेता है। परस्पर संगठित राजाओं में भी धन द्वारा भेद डाला जा सकता है। शत्रु से प्राप्त किए गये धन–धान्य, भूमि आदि को लौटा देना इसी उपाय का अंग है।

3- Hkn & भेद का तात्पर्य है किसी युक्ति से संगठित शत्रु में फूट डाल देना। शत्रु राज्य के मंत्री, सेनापति, पुरोहित एवं अन्य अधिकारियों के मध्य भेद उत्पन्न कर सुगमतापूर्वक कार्यसिद्धि की जा सकती है। मगध नरेश अजातशत्रु इसी उपाय की सहायता से शक्तिशाली लिच्छवी गणराज्य को विजित कर पाया था।

4- n.M% & दण्ड का अर्थ है – दमन करना। शत्रु को वशवर्ती बनाने के लिए उस पर बल प्रयोग करना दण्ड उपाय कहलाता है। कामन्दक ने दण्ड उपाय के तीन भेद बताए हैं[18]–

1. शत्रु का वध कर देना,

2. उसका धन हर लेना एवं

3. उसे शारीरिक कष्ट देना।

मण्डल के अन्तर्गत राज्यों से पारस्परिक सम्बन्ध बनाने में इन चार उपायों का सहारा लेना अत्यावश्यक समझा जाता था। किस उपाय का प्रयोग किया जाए, इस सम्बन्ध में शुक्र ने व्यवस्था दी है। उनका कहना है कि शत्रु के लिए पहले साम का प्रयोग किया जाये, तदनन्तर दान का और भेद का तो कभी भी प्रयोग किया जा सकता है, किन्तु दण्ड का प्रयोग तभी करना चाहिए जब प्राण संशय में पड़े हुए हों। शुक्र का कथन है कि प्रबल राजाओं का साम और दान के माध्यम से वश में करना चाहिए। अधिक शक्तिवान शत्रु के साथ साम और भेद का प्रयोग करना चाहिये, समान शक्ति वाले शत्रु के साथ साम, भेद और दण्ड का प्रयोग उचित रहता है तथा अपने से कम शक्ति वाले शत्रु के साथ केवल दण्ड का प्रयोग करना चाहिए।[19] कामन्दक ने अपने नीतिसार में साम, दान, भेद और दण्ड के अतिरिक्त माया, उपेक्षा तथा इन्द्रजाल इन तीनों को भी उपाय की श्रेणी में रखा है।[20] उसका कथन है कि इन उपायों का प्रयोग करते समय देश,काल, परिस्थिति एवं आवश्यकता को ध्यान में रखना चाहिए।

e.My fl)kr

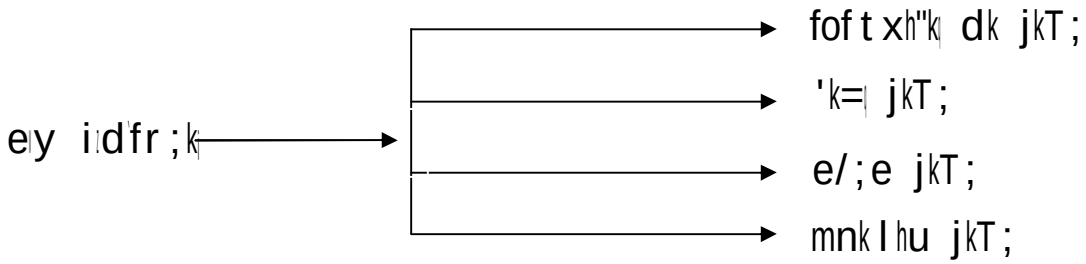
ey idfr;k
foftxh"k dk jkT;
'k=q jkT;
e/;e jkT;
mnklhu jkT;

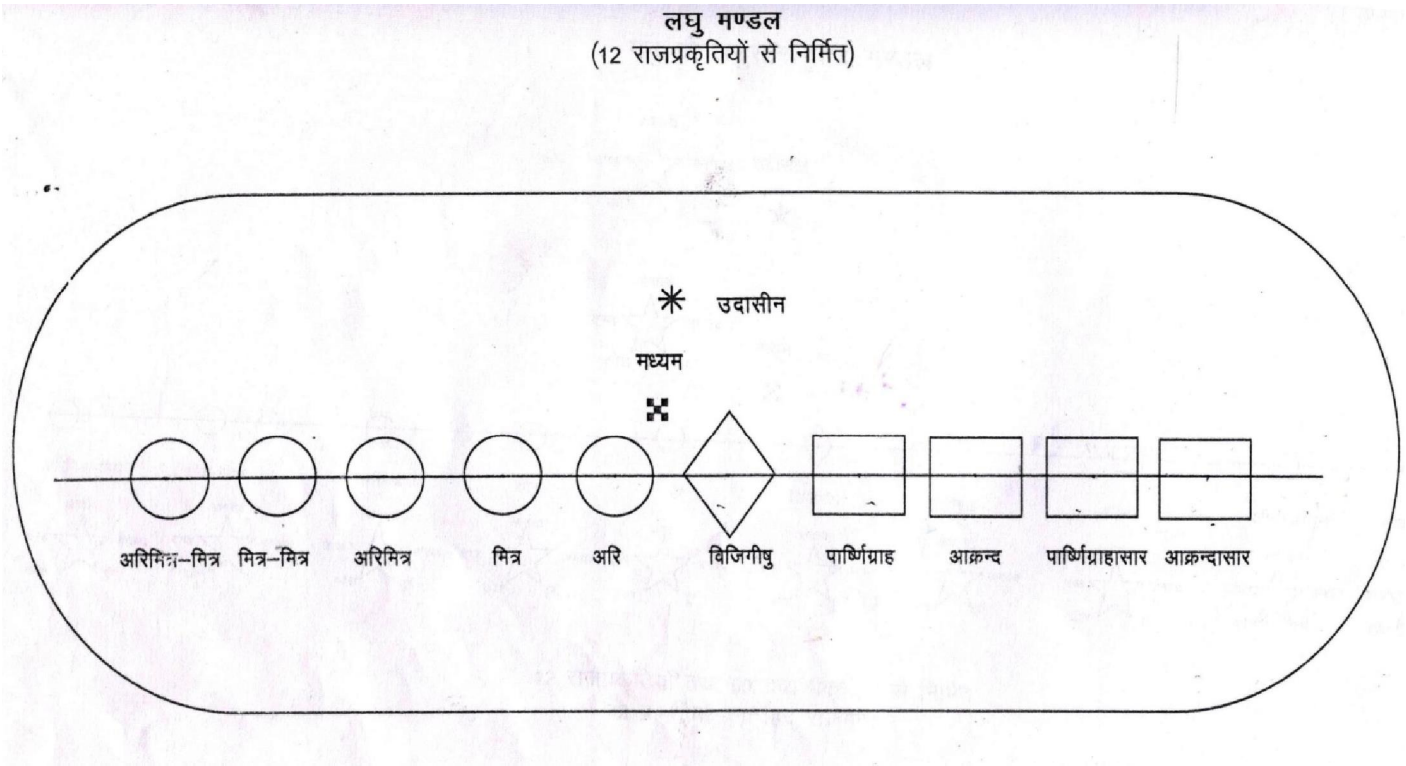
लघु मण्डल
(12 राजप्रकृतियों से निर्मित)
उदासीन
मध्यम
अरिमित्र–मित्र
मित्र–मित्र
अरिमित्र
मित्र
अरि
विजिगीषु
पार्ष्णिग्राह
आक्रन्द
पार्ष्णिग्राहासार
आक्रन्दासार

मनु के अनुसार वृहद् मण्डल

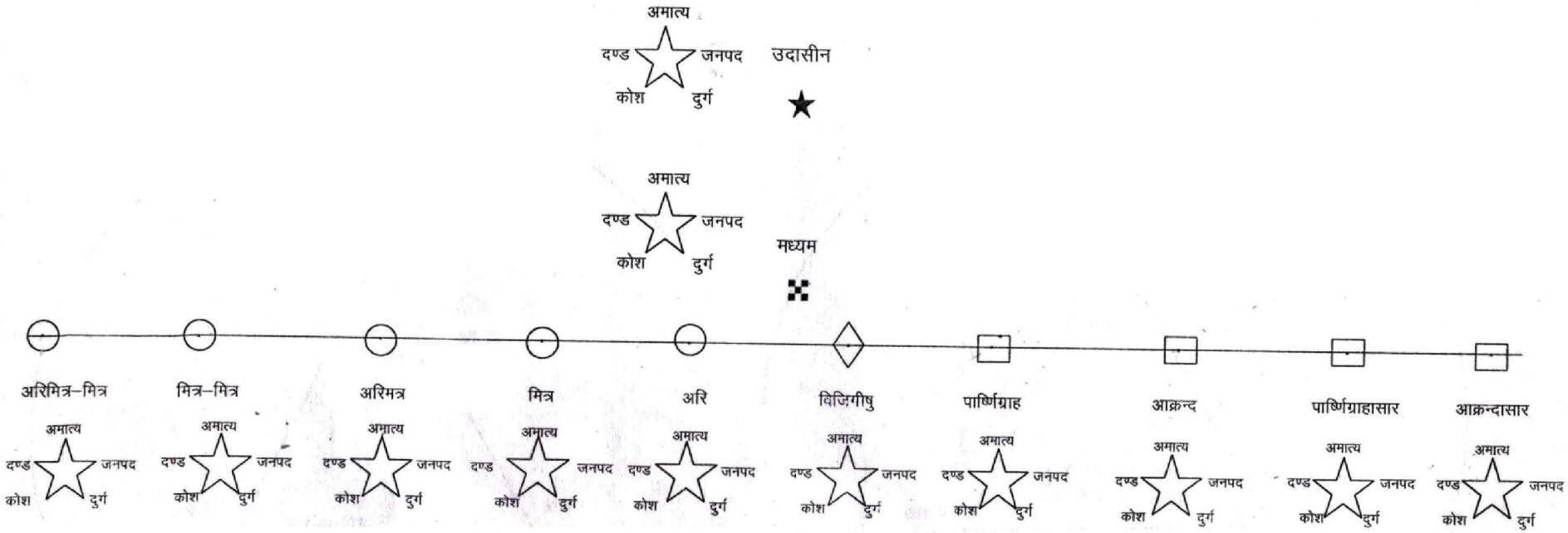

12 राजप्रकृतियों तथा 60 द्रव्य प्रकृतियों से निर्मित
72 प्रकृतियों का वृहद् राजमण्डल

कौटिल्य के अनुसार वृहद् मण्डल

(18+18+18+18=72 प्रकृतियों का वृहद् मण्डल)

चक्र – 1

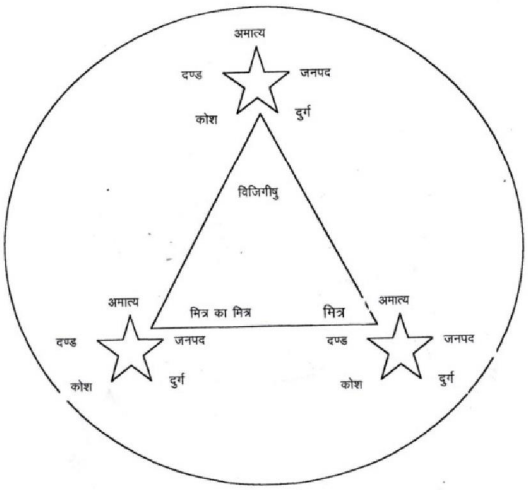

18 प्रकृतियाँ

चक्र – 2

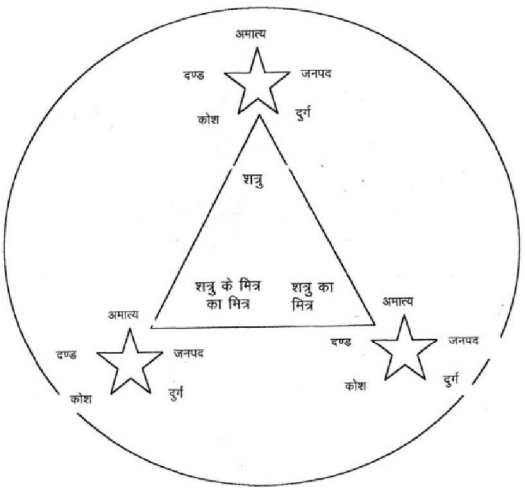

10 प्रकृतियाँ

चक्र – 3

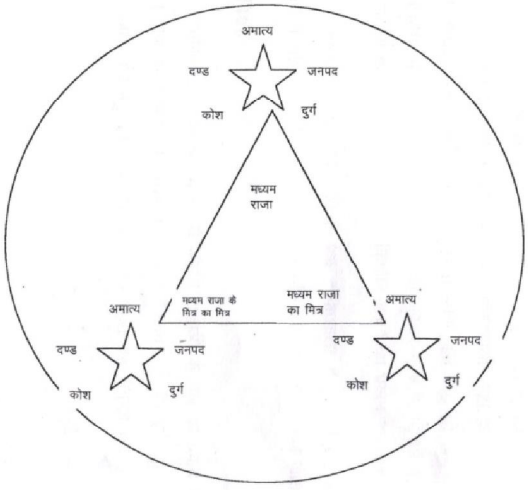

18 प्रकृतियाँ

चक्र – 4

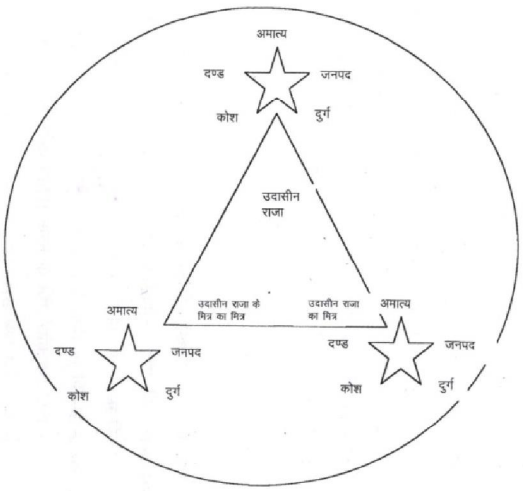

18 प्रकृतियाँ

"kkMxq.; fl)kUr

प्राचीन भारत में राज्य की परराज्य नीति का संचालन षाड्गुण्य सिद्धान्त द्वारा किया जाता था। महाभारत (शांति पर्व), अर्थशास्त्र, मनु स्मृति, शुक्रनीतिसार, कामंदक नीतिसार आदि ग्रन्थों में इस सिद्धान्त का वर्णन प्राप्त होता है। इस सिद्धान्त के अनुसार राजा को अपने शत्रु के साथ व्यवहार करते समय छः गुणों को ध्यान में रखना चाहिये। ये छः गुण हैं – सन्धि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय और द्वैधीभाव। इन छः गुणों का

विवरण निम्नानुसार है–

1- lfU/k &

कौटिल्य के अनुसार दो राजाओं के बीच निर्धारित शतों के बाद होने वाले मेल को सन्धि कहते हैं।[21] सन्धि प्रायः एक शक्तिहीन या पराजित राजा अपने से सशक्त राजा के साथ करता है। कामन्दक का कथन है कि जब राजा किसी बलवान् शत्रु राजा से आक्रान्त हो जाये और अपनी रक्षा का कोई उपाय न दिखाई दे, तब ऐसी अवस्था में विपदग्रस्त राजा को समय व्यतीत करने के लिए संधि कर लेनी चाहिए।[22] सन्धियाँ कई शत्रु राजा बिना लोभ की निवृति के लौटता नहीं है, इसलिए उसे उपहार देकर उसके साथ सन्धि कर लेना ही श्रेयस्कर होता है। शक्तिशाली राजा के कोप को भूमि, कोश, सेना, सन्तान, कन्या आदि देकर शान्त किया जाना, इस संधि की विशेषता है। कौटिल्य ने पराजित राजा के लिए संधि काल को ऐसा अवसर माना है, जिसमें वह स्वयं की रक्षा एवं उन्नति करते हुए सबल शत्रु को शक्तिहीन बनाने का प्रयत्न कर सकता है।

कभी–कभी कई राजा किसी एक शक्तिशाली शत्रु के विरूद्ध संगठित होकर आपस में संधि कर लेते हैं। इस प्रकार की संधि परिणतार्थ सन्धि कही जाती है।

2- foxg &

सन्धि शब्द जहाँ दो या दो से अधिक राजाओं के मेल को प्रकट करता है, वहीं विग्रह शब्द से तात्पर्य एक दूसरे के अपकार में लगने से है। इसे युद्ध के अर्थ में भी लिया जाता है। मनु का कथन है कि ''जब राजा यह अनुभव करे कि उसकी

संपूर्ण प्रकृतियाँ (अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोश, दण्ड और मित्र) सबल हैं तथा वह स्वयं भी उत्साह से परिपूर्ण है तो उसे विग्रह गुण का आश्रय लेना चाहिये।''[23]

कौटिल्य के मतानुसार विग्रह तभी करना चाहिए जब राजा स्वयं को शत्रु की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली समझता है।[24] जिस समय विजिगीषु राजा पर देखे कि उसके देश में प्रायः लोग शस्त्र चलाने में निपुण और संगठित हैं तथा उसका राज्य पर्वत, वन, नदी और दुर्ग से सम्पन्न है, उसके राज्य में प्रवेश करने के लिए केवल एक ही द्वार है और वह शत्रु के आक्रमण को विफल करने में समर्थ है, तब वह विग्रह गुण का अवलम्बन कर सकता हैं।[25]

कामन्दक के अनुसार विग्रह तभी करना चाहिए जब यह वर्तमान एवं भविष्य दोनों कालों में फलदायक प्रतीत हो। यदि यह करना भी पड़े तो अपने से अधिक शक्तिशाली राजा के साथ न किया जाये। शुक्र के मतानुसार भी बलवान् राजा से युद्ध नहीं करना चाहिए।

3- ;ku &

यान का अभिप्राय है चढ़ाई अथवा आक्रमण करना। कौटिल्य के अनुसार अपनी रक्षा का पूर्ण प्रबन्ध कर लेने के पश्चात् जब यह प्रतीत हो कि शत्रु के कार्य का नाश आक्रमण द्वारा संभव है तब यान गुण का अवलम्बन करना चाहिए।[26] शुक्र के मतानुसार अपने इच्छित फल व विजय प्राप्ति की कामना से तथा शत्रु के नाश के निमित्त जो प्रस्थान (गमन) किया जाता है, उसे यान कहते है। जब विजिगीषु यह समझे कि शत्रु व्यसन, अग्नि, जल, रोग अथवा दुर्भिक्ष से पीड़ित है तथा उसका मण्डल दुर्बल है तब उस पर चढ़ाई कर देनी चाहिए। मनु ने यान के दो प्रकार बताए हैं[27] –

¼1½ ,dkdh ;ku & इसके अन्तर्गत विजिगीषु अकेले ही (अपने मित्र राज्यों की सहायता लिए बिना) शत्रु के विरूद्ध अभियान कर देता है।

¼2½ fe=&lgr ;ku & यदि शत्रु पर आक्रमण करना आवश्यक हो और विजिगीषु स्वयं चढ़ाई करने में असमर्थ से तब मित्रों की सहायता से शत्रु पर आक्रमण करना मित्र–संहत यान कहलाता है।

4- vklku &

आसन का शाब्दिक अर्थ होता है – बैठना राजशास्त्र में अपने अवसर की ताक में मौन बैठे रहना आसन कहलाता है।[28]

कौटिल्य ने अनुकूल समय की प्रतीक्षा में बैठे रहने की स्थिति को आसन गुण कहा है।[29] उसने लिखा है कि जब राजा यह समझे कि उसका शत्रु इतना समर्थ नहीं है कि उसके कार्यों को हानि पहुँचा सके और न ही वह स्वयं उसके कार्यों को बिगाड़ सकता है तो उसे इस नीति का आश्रय लेना चाहिए।[30]

eu; u; vklu dk nks çdkj crk, g;s[31]&

¼1½ 'kfäghu vklu &

जब राजा अपने पूर्व कर्मो के कारण शक्तिहीन होकर बैठ जाता है तो इसे शक्तिहीन आसन कहते है। इसका उद्देश्य पुनः शक्ति संचय होता है।

¼2½ fe=kuqjks/k vklu &

इसमें मित्र के अनुरोध पर राजा मौन होकर बैठ जाता है। कामन्दक का निर्देश है कि यदि युद्ध के कारण विजिगीषु की शक्ति नष्ट होने की संभावना हो तो उसे आसन गुण ही अपनाना चाहिए।

5- la'kJ ; &

संश्रय शब्द का तात्पर्य आश्रय अथवा शरण ग्रहण करना है। कौटिल्य का मत है और न ही वह अपने कार्यों की रक्षा कर पा रहा है, तब उसे किसी बलवान् राजा का आश्रय ग्रहण कर लेना चाहिए। आश्रय लेते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि इस राजा की शक्तियाँ शत्रु राजा की शक्तियों से अधिक होनी चाहिए। यदि ऐसा कोई राजा न मिले तो उचित यही रहेगा कि वह अपने सबल शत्रु के सामने ही आत्मसमर्पण कर दे।[33]

मनु ने भी संश्रय गुण का वर्णन किया है। उसका कथन है कि जब शत्रु के आक्रमण के विरूद्ध कोई राज्य अपनी रक्षा न कर सके तो उसे शीघ्र ही बलवान् राजा का संश्रय ग्रहण कर लेना चाहिए।[34] यहाँ बलवान् से तात्पर्य ऐसे राजा से है

जो उसकी रक्षा कर सके तथा शत्रु की सेना का निग्रह कर सके।" मनु ने संश्रय गुण के दो प्रकार बनाए हैं –

(1) शत्रु से पीड़ित होते हुए आत्म–रक्षार्थ किसी बलवान् राजा की शरण में चले जाना।

(2) भविष्य में शत्रु से पीड़ित होने की आशंकावश किसी बलवान् राजा का आश्रय ग्रहण कर लेना। इस प्रकार का आश्रय अपना प्रभाव बढ़ाने हेतु भी लिया जाता है। तत्कालीन आवश्यकता न रहने पर भी प्रबल राजा का आश्रय लिया जाता है, जिससे अन्य राजा इस बात से डरते रहें कि उसे प्रबल राजा का सहारा है, अतः उसके विरूद्ध आचरण न करें।[36]

शुक्रनीति में संश्रय गुण को आश्रय गुण कहा गया है। उसके अनुसार जब प्रबल शत्रु द्वारा किसी राजा के राज्य का मूलोच्छेद कर दिया गया हो और राजा को कोई दूसरा उपाय न सूझे तो इस परिस्थिति में उस राजा को किसी कुलीन, आर्य, सत्यवादी और बलवान् राजा का आश्रय ग्रहण करना चाहिए।[37]

6- }èkhHkko &

द्वैधीभाव का शाब्दिक अर्थ है–दो प्रकार के भाव व्यक्त करना। जब किसी राजा द्वारा एक ही समय में दो प्रकार की नीतियों का अवलम्बन किया जाता है तब यह द्वैधीभाव गुण कहलाता है।

मनु ने सेना को दो भागों में विभक्त करने को द्वैधीभाव कहा है। उसके अनुसार जब राजा शत्रु को अति बलवान् पाये तो ऐसी परिस्थिति में उसे सेना को दो भागों में विभक्त कर अपना कार्य सिद्ध करना चाहिए। अर्थात वह एक स्थान पर युद्ध करे और दूसरें स्थान पर शान्त रहे।[38]

कौटिल्य के अनुसार एक ही समय में एक राजा के साथ सन्धि और दूसरे के साथ विग्रह करना द्वैधीभाव है।[39]

कामन्दक का कथन है कि द्वैधीभाव वह गुण है जिसके तहत् राजा तैयारी तो आक्रमण की करता रहे कितु ऊपर से शांति की बात करता रहे। शुक्र का मत भी कामन्दक के समान ही है। उसने लिखा है कि जब राजा को समय के अनुसार

कार्य का उपाय निश्चित न हो तब वह काक के नेत्र के समान कभी किसी की ओर और कभी किसी की ओर झुकाव प्रदर्शित करे।[40]

जिस समय विजिगीषु राजा यह समझता है कि एक राजा से सन्धि और दूसरे से विग्रह करके वह अपने कार्यों को सम्पादित कर सकता है तथा शत्रु के कार्यों को हानि पहुँचा सकता है, उस समय अपनी कार्य–वृद्धि हेतु द्वैधीभाव का अवलम्बन करने की नीति उचित ठहराई गई है।[41]

इस प्रकार स्पष्ट है कि सन्धि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय और द्वैधीभाव ये छः गुण षाड्गुण्य मंत्र के होते हैं। महाभारत के शांतिपर्व में भीष्म राजा युधिष्ठिर को उपदेश देते हुए कहते हैं कि षाड्गुण्य मंत्र, त्रिवर्ग तथा परमंत्रीवर्ग को जो राजा विधिवत् जान लेता है, वही इस संपूर्ण पृथ्वी का भोग करता है।[42]

"kkMxq.; e= d ç;kx fo"k; e dkfVY; dk fun'k bl çdkj g[43]&

(1) जब दूसरे राज्य की शक्ति अधिक हो तो उससे सन्धि कर ली जाए।

(2) यदि राजा अपने राज्य को शक्ति सम्पन्न समझे तब विग्रह किया जाए।

(3) यदि राजा को यह विश्वास हो कि उसकी शक्ति शत्रु से अधिक है तो यान (आक्रमण) की नीति अपनानी चाहिए।

(4) जब राजा यह अनुभव करे कि न दूसरा हमें परास्त कर सकता है और न हम दूसरे पर विजय पा सकते हैं, तो आसन (तटस्थता की नीति) का आश्रय लिया जाए।

(5) यदि अपना राज्य शक्तिहीन हो और सबल राज्य के आक्रमण का खतरा हो तब किसी अन्य बलवान् राज्य का संश्रय (आश्रय) ग्रहण करना श्रेयस्कर है।

(6) जब राजा यह देखे कि उसके उद्देश्य की पूर्ति एक के साथ सन्धि तथा दूसरे के साथ विग्रह करने से हो जाती है, तब उसे द्वैधीभाव अपनाना चाहिए।

कौटिल्य ने उपर्युक्त सभी गुणों के महत्व का तुलनात्मक विवेचन भी किया है। उसका मत है कि संधि ओर विग्रह में संधि श्रेष्ठ है क्योंकि विग्रह में शक्तिक्षय, व्यय, प्रवास व अन्य कष्ट होते है। यान और आसन में आसन उचित और श्रेष्ठ है।

इसी प्रकार संश्रय और द्वैधीभाव में से द्वैधीभाव उत्तम होता है, क्योंकि द्वैधीभाव में अपनी कार्यसिद्धि होती है जबकि संश्रय में दूसरे के प्रभाव में रहकर उसके कार्य सिद्ध करने होते है।

अतएव, विजिगीषु राजा को समय एवं परिस्थिति के अनुरूप षाड्गुण्य के सभी उपायों का बुद्धिपूर्वक प्रयोग करना चाहिए।

nwr 0;oLFkk %

प्राचीन भारत में राज्यों के पारस्परिक सम्बन्ध षाड्गुण्य मंत्र से संचालित होते थे। षाड्गुण्य मंत्र के प्रयोग में दूत महत्वपूर्ण भूमिका निभाते थे, क्योंकि युद्ध एवं शांतिकाल में राजाओं का पारस्परिक सम्पर्क प्रायः दूतों के माध्यम से ही होता था। पारस्परिक सम्बन्धों की स्थापना एवं सूचनाओं के आदान–प्रदान का गुरुतर उत्तरदायित्व दूत पर ही होता था। राजाओं के सन्देश एवं मन्तव्य का वाहक होने के कारण कौटिल्य ने दूत को 'राजा का मुख' (दूतमुखावै राजानस्त्व चान्ये च)[44] कहा है।

ijEijk %

दूत व्यवस्था अत्यन्त प्राचीन है। दौत्य कर्म का प्राचीनतम उल्लेख ऋग्वेद में उपलब्ध होता है। ऋग्वेद में उल्लिखित है कि जो एक राज्य से दूसरे राज्य में जाता है तथा वहाँ अपने राजा का संदेश पहुँचाता है, वह उत्तम राजदूत होता है और ऐसा राजदूत अग्नि है।[45] ऋग्वेद में एक स्थान पर अग्नि को सूर्य का दूत बताया गया है। इसी ग्रन्थ में वायु को भी दूत की संज्ञा दी गई है। इन देव दूतों के अतिरिक्त पक्षियों को भी दूत बनाए जाने के उदाहरण वेदों में मिलते हैं। ऋग्वेद मे कपोत और उलूक पक्षी को यमदेव का विशेष दूत निरूपित किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक आर्य दूत व्यवस्था को आवश्यक एवं उपयोगी समझते थे। ऋग्वेद में इन्द्र द्वारा अपने शत्रु पणियों के पास सरमा नाम की दूती को भेजने का उल्लेख प्राप्त होता है।[46] तैतिरीय संहिता में भी कहा गया है कि अग्नि देवताओं कादूत है, जैसा अग्नि यज्ञ में दूत कर्म करता है, वैसा राजदूत राज्य–शासन रूपी

यज्ञ में दूत कर्म करे।[47] शतपथ ब्राह्मण में भी दूत व्यवस्था के महत्व का निरूपण है।[48]

रामायण और महाभारत में दौत्य कर्म के सम्बन्ध में अनेक उदाहरण प्राप्य हैं। रामायण में हनुमान और अंगद तथा महाभारत में श्रीकृष्ण और संजय द्वारा दूत की भूमिका का निर्वाह किए जाने के प्रसंग है।

यूनानी लेखकों के विवरणों के ज्ञात होता है कि सिकंदर के आक्रमण समय विभिन्न भारतीय नरेशों ने यूनानी विजेता के पास दूत भेजे थे। यवन राजा सेल्यूकस ने 'मैगस्थनीज' को अपना राजदूत बनाकर चन्द्रगुप्त मौर्य के दरबार में भेजा था। स्ट्रेबो के अनुसार सीरिया के राजा एण्टियोकस ने डाइमेकस' नामक अपना राजदूत बिन्दुसार की राजसभा में भेजा था। प्लिनी के विवरण से भी डायोनिसियस' नामक मिश्र के राजदूत के मौर्य राजदरबार में आने की जानकारी मिलती है। मौर्य राजाओं ने भी अपने दूत यवन राज्यों में भेजे थे।

बेसनगर (विदिशा, म.प्र.) से प्राप्त गरूड़स्तंभ लेख से ज्ञात होता है कि तक्षशिला के यवन राजा अन्तलिकित (एण्टिआल्किडास) ने हेलियोडोरस को अपना दूत बनाकर विदिशा के राजा (संभवतः शृंगवंशी) भागभद्र की सेवा में भेजा था। समुद्रगुप्त के दरबार में सिंहल के राजा एवं चालुक्य राजा पुलकेशी द्वितीय के दरबार में ईरान के राजा ने दूत भेजे थे। इसी प्रकार के प्रभूत उदाहरण प्राचीन इतिहास में उपलब्ध होते है, जो दौत्य कर्म की समृद्ध परंपरा की ओर संकेत करते हैं।

nr dh ;kX;rk,¡ &

ऋग्वेद के अनुसार दूत तेजस्वी, कार्य को अन्त तक पहुंचाने वाला, अपना भाव उत्तम रीति से रखने में समर्थ, तरूण के समान बलवान् और ओजस्वी, अग्नि ज्वाला के समान ओजपूर्ण भाषण करने वाला, सत्य धर्म का पालन करने वाला और अपने राजा को सुखी करने वाला होना चाहिए।[49]

महाभारत में भीष्म का कथन है कि जो पुरूष कुलीन, वाग्मी (कुशल वक्ता), दक्ष, प्रिय–भाषी, यथोक्तवादी और स्मृतिवान् हो वही दूत–पद पर नियुक्त किया

जाता चाहिए। मनु के अनुसार दूत को सर्वशास्त्रों का विद्वान, दूसरों की भाव–भंगिमाओं से उनके मन की बातें जान लेने वाला, चतुर, कुलीन, स्मरणशक्तियुक्त देश–काल का ज्ञाता, निर्भय एवं वाग्मी होना चाहिए।[50] कौटिल्य कामन्दक, शुक्र एवं सोमदेव सूरि ने भी दूत में उत्त समस्त गुण एवं योग्ताएँ होनी आवश्यक मानी है।

nwr dk çdkj & कौटिल्य ने योग्यता एवं अधिकारों की दृष्टि से दूतों के तीन प्रकारों का उल्लेख किया है – निसृष्टार्थ, परिमितार्थ और शासनहर।[51]

budk fooj.k fuEukuqlkj gS &

¼1½ fuLV"VkFkZ & निसृष्टार्थ का अर्थ है, जिसे कतिपय कार्य सुनिश्चित रूप से सौंपे गये हों। इस कोटि के दूतों में अमात्य के सभी गुण होते थे तथा उनकी स्थिति भी अमात्य के समान ही होती थी। इस दूत को अपने राजा की ओर से विवादग्रस्त विषयों पर निर्णय करने का पूर्ण अधिकार होता था।

¼2½ ifjferkFkZ & इस श्रेणी के दूतों में अमात्य पद से एक चौथाई (1–1/4=3/4) गुण होते थे। यह दूत उन्हीं विषयों पर निर्णय कर सकता था, जिनका उसे निर्देश दिया गया हो। इस प्रकार सीमित उद्देश्य की प्राप्ति में सहायक होने के कारण इसे 'परिमितार्थ' कहा जाता था।

¼3½ 'kkluugj & शासनहर से तात्पर्य है – शासन का संदेश वाहक। इस श्रेणी के दूतों का काम केवल यह था कि अपने राजा के संदेश को दूसरे राजा तक पहुँचा दे तथा अन्य राजा के संदेश को अपने राजा तक पहुँचा दे। इस प्रकार के दूत में अमात्य से आधे गुण होना पर्याप्त माना जाता था।

nwr dk dÙkZO; &

मनु के अनुसार दूत पर सन्धि और विग्रह कराने का भारी उत्तरदायित्व होता है। वह अपनी वाकपटुता एवं कौशल से शत्रु से मेल करा सकता है, मिले हुए शत्रु से विग्रह करा सकता है तथा परस्पर मैत्री भाव रखने वाले राजाओं में फूट उत्पन्न कर सकता है।[52]

कौटिल्य के अनुसार दूत के प्रमुख कार्य इस प्रकार हैं– अपने स्वामी का सन्देश दूसरे शासकों तक पहुँचाना तथा उनका उत्तर अपने स्वामी को भेजना, पूर्व काल में की हुई सन्धियों का पालन करना, अपने स्वामी के गौरव व प्रताप का प्रचार करना, मित्रों की संख्या बढ़ाना, शत्रु एवं उसके मित्रों में भेद उत्पन्न करना, शत्रु की सेना और गुप्तचरों को अपने राज्य से बाहर करना, शत्रु के बंधु–बांधवों एवं रत्नों का अपहरण करना, शत्रु की कमजोरी को देखते ही पराक्रम प्रदर्शित करने की व्यवस्था करना, संधि के अनुसार कैदियों को छुड़ाना आदि।[53]

कामन्दक ने दूतों के निम्नलिखित कर्तव्य बताए हैं[54]–

1. अपने तथा अन्य राजाओं के मध्य संदेशों का आदान–प्रदान जारी रखना। अपने राजा द्वारा प्रेषित सन्देश को बिना परिवर्तित किए अन्य राजा के सामने उसे प्रस्तुत करना दूत के लिए अपरिहार्य था।
2. अन्य राज्य में जाकर अपने राजा के पराक्रम व प्रभाव की स्थापना करना।
3. अन्य राज्य के विभिन्न अंगो की वास्तविक शक्ति का ज्ञान प्राप्त कर, उनकी संपूर्ण जानकारी अपने स्वामी को देना।
4. अन्य राज्य के राजा से असंतुष्ट लोगों को अपनी ओर मिलाने का यत्न करना।
5. अन्य राज्य में प्रवेश करने के स्थल एवं जल मागों की जानकारी अपनी सेना के लिए प्राप्त करना।

इस प्रकार स्पष्ट है कि अपने देश की सुरक्षा एवं सम्मान की रक्षा के लिए सदैव सतर्क रहना दूत का प्रमुख कर्तव्य है। अपने राज्य की रक्षा एवं प्रगति के लिए दूत को शत्रु राज्य की प्रत्येक सूक्ष्म से सूक्ष्म बात का पता लगाने के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए।

nr dk vkpkj &

कौटिल्य का मत है कि दूत को अपने निश्चित मान, वाहन, नौकर–चाकर और अन्य उत्तम सामग्रियों के साथ पर–राज्य में निवास करना चाहिए, पर–राज्य के

राजा की आज्ञा प्राप्त कर लेने के उपरान्त ही उस राज्य में प्रवेश करना चाहिए। अपने राजा का सन्देश पर–राज्य के राजा के समक्ष ज्यों–का–त्यों प्रस्तुत करना चाहिए। प्राणों का भय होने पर भी उसे सन्देश में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं करना चाहिए। पर–राज्य के राजा से अनुमति लेकर ही दूत को अपने राज्य के लिए प्रस्थान करना चाहिए। दूसरे राजा द्वारा उसका जो स्वागत–सत्कार किया जाए, उसके प्रति प्रसन्नता प्रकट करते हुए भी अधिक प्रभावित नहीं होना चाहिए। अपने स्वामी का सन्देश सुनाते हुए विरोधी राजा को यदि बुरा लगे और वह उस दूत को बन्दी बनाना चाहता हो अथवा उसे मारने की योजना बना रहा हो तो उस दूत को पर–राज्य से भाग जाना चाहिए। अपने राज्य की कोई भी गुप्त बात बताए बिना ही दूत चाहिए। उसे दोनों पक्षों के गुणों को दोहराते रहना चाहिए।[55] इस प्रकार दूत के आचार–व्यवहार सम्बन्ध में व्यापक नियम बनाए गये। ये नियम आज की बदली हुई परिस्थितियों में भी पर्याप्त उपयोगी और व्यावहारिक हैं।

nr d fy, vif{kr lkoèkkfu;k &

दूत के लिए यह सर्वथा आवश्यक है कि वह अपने राज्य के गुप्त भेद पर–राज्य में कदापि प्रकट न करे। इस लिए कौटिल्य ने दूत को पर–राष्ट्र में अत्यंत सावधान रहने का निर्देश दिया है। दूत को कभी भी स्त्री प्रसंग और मद्यपान नहीं करना चाहिए क्योंकि इन से मन के आन्तरिक भाव प्रकट होने का भय रहता है। दूत को अकेले सोना चाहिए क्योंकि कई बार व्यक्ति नशे में अथवा सोते हुए ही अपने मन के भेदों को कहने लगता है। यदि परकीय राजा उसे विशेष आदर–सम्मान एवं प्रलोभन देकर उससे अपने राज्य के भेद पूछने का प्रयास करे तो उसे राजा की चालाकी में नहीं आना चाहिए। ऐसी परिस्थिति आ भी जाए तो विनम्रतापूर्वक यह कहकर टाल देना चाहिए कि 'आप सब कुछ जानते हैं।"

कामन्दक एवं सोमदेव सूरि ने भी दूतों के लिए इसी प्रकार की सावधानियाँ बताई हैं।

nr d fo'k"kkfèkdkj &

दूत का प्रमुख कर्तव्य अपने स्वामी के सन्देश को बिना किसी परिवर्तन के अन्य राजा तक पहुँचाना होता है। यह सन्देश अन्य राजा के लिए अप्रिय भी हो

सकता है और वह कुद्ध होकर दूत के अपकार का आदेश भी दे सकता है। इसलिए प्राचीन भारतीय राजशास्त्रियों ने यह व्यवस्था दी हैं कि किसी भी परिस्थिति में दूत का वध नहीं किया जा सकता। रामायण में कहा है कि दूत चाहे साधु हो या असाधु वह तो दूसरों का भेजा हुआ और दूसरों की बात कहने वाला होता है। अतः दूत का वध नहीं करना चाहिए।[56] महाभारत में भीष्म युधिष्ठिर से कहते हैं कि दूत को किसी भी परिस्थिति में नहीं मारना चाहिए, क्योंकि दूत को मारने वाला राजा मन्त्रियों सहित नरकगामी होता है। क्षात्र धर्म में रत जो राजा सत्यवादी दूत का वध करता है उसके पितर भ्रूण हत्या के भागी होते हैं।[57] कौटिल्य के अनुसार चाण्डाल होते हुए भी दूत अवध्य है क्योंकि उसका कार्य तो केवल दूसरे की कही गई बात को दुहरा देना होता है। रामायण के अनुसार रामदूत हनुमान के सन्देश और व्यवहार से कुपित होकर रावण ने उनके वध का विचार किया, तब विभीषण ने बताया कि नीति के अनुसार दूत को मारा नहीं जा सकता। फलतः उनकी जान ने लेकर केवल पूंछ में आग लगाई गई।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में दूत का पद अत्यन्त महत्वपूर्ण, प्रतिष्ठायुक्त एवं विशेषाधिकार सम्पन्न होता था।

I nHk

1. चटर्जी, एच. एल. इण्टरनेशनल ला एण्ड इण्टरस्टेट रिलेशन्स इन एंशियंट इण्डिया, कलकत्ता, 1958, पृ. 9–12.
2. अल्तेकर, अनंत सदाशिव, प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, पृ.229
3. मध्यमस्य प्रचारं च विजिगीषोश्च चैष्टितम्।

   उदासीनं प्रचारं च शत्रोशश्चैव प्रयत्नतः।। – मनु 7.155
4. विद्यालंकार, सत्यकेतु, प्राचीन भारत की शासन–संस्थाएँ और राजनीतिक विचार, श्री सरस्वती सदन, दिल्ली, 1996, पृ. 347.
5. सम्पन्नस्तु प्रकृतिर्भिमहोत्साहः कृत श्रमः।

   जेतुमेषण शीलश्च विजिगीषुरिति स्मृतः।। – कामन्दक, 8.6
6. अर्थशास्त्र, 6.2 वार्ता 17
7. शर्मा, हरिश्चन्द्र, प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचार एवं संस्थाएँ कॉलेज बुक डिपो, जयपुर, 1970, पृ. 436.
8. अर्थशास्त्र, 6.2, वार्ता 29, राय, लालचन्द्र, प्राचीन भारतीय शासन व्यवस्था, आजीवन शिक्षा संस्थान, इलाहाबाद, 1981, पृ. 286.
9. अर्थशास्त्र, 6.2, वार्ता 30, शर्मा, हरिश्चन्द्र, पूर्वोक्त, पृ. 437.
10. शुक्ल, जगदीश प्रसाद एवं यादव, चित्रा, हिन्दू राजशास्त्र, नगीना प्रकाशन, वाराणसी, प्र.सं., पृ. 206.
11. मनु स्मृति, 7.156, राय, लालचन्द्र, पूर्वोक्त, पृ. 288.
12. शांतिपर्व 59.70दृ71.
13. अर्थशास्त्र, 6.2, वार्ता 36–38.
14. शरण, परमात्मा, प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थाएँ, मीनाक्षी प्रकाशन, मेरठ, 1977, पृ. 535.

15. मनु स्मृति, 7.180

16. वही, 7.107

17. वही, 7.108

18. कामन्दकीय नीतिसार, 7.17

19. शर्मा, हरिश्चन्द्र, पूर्वोक्त, पृ. 441

20. कामन्दकीय नीतिसार, 17.3

21. पणबन्धः संधिः (प्रण से आबद्ध होकर किया गया मेल संधि है) अर्थशास्त्र, 7.1 वार्ता 6.

22. कामन्दकीय नीतिसार, 9.1.

23. मनु स्मृति 7.170–171

24. अर्थशास्त्र, 7.1 वार्ता 13.

25. अर्थशास्त्र, 7.1 वातां 48–52 अग्रवाल, रवीन्द्रनाथ, 'कौटिल्य अर्थशास्त्र में अन्तरराज्यीय सम्बन्ध', मध्य भारती, अंक 8द्द10, 40 सागर, 1968, पृ. 28

26. अर्थशास्त्र, 7.1 वार्ता 59

27. मनु स्मृति 7.165

28. राय, लालचन्द्र, पूर्वोतक्त, पृ. 299.

29. अर्थशास्त्र, 7.1 वार्ता 8

30. वही 7.1.54–55

31. मनु स्मृति 7.176

32. कामन्दकीय नीतिसार 11.12

33. अर्थशास्त्र, 7.1 वार्ता 61; 7.2 वार्ता 7; शर्मा, हरिश्चन्द्र, पूर्वोक्त, पृ. 446

34. मनु स्मृति 7.174

35. वही 7.175

36. शरण, परमात्मा, पूर्वोक्त, पृ. 531

37. शुक्रनीति 14.1120

38. मनु स्मृति 7.173

39. सन्धि विग्रहोपदान द्वैधीभाव अर्थशास्त्र 7.1 वार्ता 11

40. शरण, परमात्मा, पूर्वोक्त, पृ. 532

41. अर्थशास्त्र 7.1, वार्ता 63; अग्रवाल, रवीन्द्रनाथ, पूर्वोक्त, पृ. 32

42. शान्तिपर्व 69.66

43. अर्थशास्त्र 7.1

44. वही 1.16 वार्ता 16

45. ऋग्वेद 1.58.1

46. ऋग्वेद 1.55.1; 3.13.4; 4.165.10; 1.108.10, राय, लालचन्द्र, पूर्वोक्त, पृ. 304.

47. शरण, परमात्मा, पूर्वोक्त, पृ.543

48. शतपथ ब्राह्मण 13:334; राय, लालचन्द्र पूर्वोत्त, पृ. 305,

49. शरण, परमात्मा, पूर्वोक्त, पू. 543

50. मनु स्मृति 7.63–64

v/;k;&5

ikphu dkyhu 'kklu 0;oLFkk,¡

प्राचीन भारत में राज्य के शासन को सुचारु रूप से चलाने के लिए शासन व्यवस्था या प्रशासन पद्धति पर गंभीरतापूर्वक विचार किया गया। प्राचीन भारतीय शासन–व्यवस्था का स्वरूप विभिन्न चरणों में विकसित हुआ ज्ञात होता है। हड़प्पा संस्कृति के स्थलों के उत्खनन से विदित होता है कि नगर के पश्चिम से स्थित 'दुर्ग से संभवतः प्रशासनिक गतिविधियों का संचालन होता था। सड़कों के व्यवस्थित क्रम, ईंटों के आकार में समानता, नगरों की स्थापना, मापों–बाँटों के मानक रूप, लिपि की समरूपता आदि से ऐसा प्रतीत होता है कि हड़प्पा संस्कृति में एक केंद्रीयभूत सत्ता अस्तित्व में थी। नगरों में समुचित सफाई का प्रबंध, नालियों की व्यवस्था एवं एक निश्चित दूरी पर प्रकाश स्तंभों की उपस्थिति से इस संस्कृति में स्थानीय शासन इकाई के अस्तित्व का भी अनुमान लगाया जाता है।

वैदिक काल में राजतंत्रीय व्यवस्था थी, जिसमें सभा, समिति और विदथ जैसी संस्थाएँ राजा को राज–काज में परामर्श देती थी। इस काल में राजकीय कार्यों में राजा की गोविकर्तु, पालागल, दूत, पुरप, स्पश आदि राजकीय पदाधिकारी होते थे। इससे प्रकट होता है कि वैदिक काल में प्रशासनिक संगठन का रूप स्थिर होने लगा था।

महाजनपद काल में राजतन्त्र और गणतन्त्र दोनों शासनपद्धतियाँ अस्तित्व में रही। राजतन्त्र में राजा की सहायता करने वाले अधिकारियों में उपराजा, माण्डलिक राजा, सर्वार्थक महामात्र, सेनापति, व्यावहारिक महामात्र एवं ग्राम भोजक के नाम मिलते हैं। गणतंत्र में संस्थागार जैसी संस्था के साथ–साथ राजा, उपराजा, सेनापति, भाण्डागारिक, अट्ठकुलक, सूत्रधार, व्यावहारिक, विनिश्चय महामात्र आदि पदाधिकारी ज्ञात होते हैं।

मौर्य युग में एक सुविकसित प्रशासन तंत्र के दर्शन होते है। इस काल में केन्द्रीय, प्रान्तीय, जिला, नगर, एवं ग्राम शासन की शासन व्यवस्था का स्पष्ट विवेचन प्राप्त होता है। मौर्य काल के बाद के कालखण्डों में भी शासन–व्यवस्था का

यही स्वरूप कमोवेश बना रहा। अब हम विभिन्न राजवंशों की प्रशासन व्यवस्था पर विचार करेंगे।

eS;dkyhu 'kklu&0;oLFkk

मौर्य वंश के नेतृत्व में भारत ने सर्वप्रथम राजनीतिक एकीकरण के दर्शन किए। सुदूर हिन्दुकुश पर्वत से मैसूर तक तथा बंगाल से लेकर गुजरात तक मौयों का साम्राज्य फेल गया। इस विशाल साम्राज्य के नियन्त्रण के लिए चन्द्रगुप्त मौर्य ने अपने महामंत्री कौटिल्य (चाणक्य) की सहायता से एक सुदृढ़ प्रशासन–तंत्र की स्थापना की। इस प्रशासन–तंत्र में चन्द्रगुप्त मौर्य के प्रपौत्र अशोक ने कतिपय परिवर्तन और सुधार किये।

मौर्ययुगीन शासन–व्यवस्था की जानकारी मुख्य रुप से कौटिल्य को अर्थशास्त्र, मैगस्थनीज की इण्डिका तथा अशोक के अभिलेखों से प्राप्त होती है। रूद्रदामन का गिरनार अभिलेख भी पश्चिमी भारत में मौर्यों के प्रशासन पर प्रकाश डालता है। मौर्य शासन व्यवस्था को समझने लिए चंन्द्रगुप्त मौर्य की शासन–व्यवस्था और उसमें अशोक द्वारा किए गये प्रशासनिक सुधारों को समझना आवश्यक है।

pUæxqIr eS;q dh 'kklu&0;oLFkk

चन्द्रगुप्त मौर्य की शासन–व्यवस्था का विवेचन हम प्रशासन की केन्द्रीय, प्रान्तीय, मण्डल जिला नगर एवं ग्राम इकाइयों के अन्तर्गत करेंगे।

dUæh; ç'kklu &

केन्द्रीय प्रशासन अध्ययन निम्नलिखित बिंदुओं के अन्तर्गत किया जा सकता हैं–

1. सम्राट्
2. अमात्य, मन्त्रिणः एवं मंत्री परिषद्
3. प्रशासनिक अधिकारी
4. सेना

5. गुप्तचर विभाग

6. राजकीय आय–व्यय

7. विधि एवं न्याय

8. लोक हितकारी कार्य

1- lekV &

मौर्यकालीन शासन–व्यवस्था राजतंत्रात्मक थी। राजा राज्य का सर्वोच्च अधिकारी होता था। मंत्रियों व अधिकारियों की नियुक्ति, न्याय की व्यवस्था, आंतरिक शांति एवं सुरक्षा, युद्ध संचालन, सेना का नियंत्रण आदि सभी कार्य राजा के अधीन थे। कौटिल्य के अनुसार इतने शक्ति सम्पन्न पद को धारण करने वाला राजा उच्च कुल का, उत्साही, उद्यमी, सत्यवादी, पराक्रमी, बुद्विमान, संयमी और दूरदर्शी होना चाहिए।[1]

राजा की दिनचर्या अतिव्यस्त होती थी। वह पूरे दिन राजकाज में रत रहता था। विश्रान्ति, निद्रा और मनोरंजन के लिए उसे बहुत अल्प समय मिल पाता था। मैगस्थनीज ने लिखा है कि राजा दिन में सोतानहीं था और प्रतिपल कार्य में संलग्न रहता था। कौटिल्य का स्पष्ट मत था कि राजा को प्रजा की शिकायतें सुनने के लिए सदैव सुलभ रहना चाहिए और प्रजा से अधिक देर प्रतीक्षा नहीं करानी चाहिए। अपने छठे शिलालेख में अशोक कहता है कि वह लोकहित के लिए प्रतिक्षण व प्रत्येक स्थान पर मिल सकता है और प्रजा की भलाई के कार्य करने में उसे बहुत संतोष मिलता है।

सम्राट् मुख्यतः राजधानी में अपने विशाल राजप्रासाद में रहा करता था। उसकी सुरक्षा के लिए अंगरक्षक एवं सशस्त्र सैनिक सदैव तैनात रहते थे।

2- vekR;] efU=.k% ,oa ef=ifj"kn &

कौटिल्य के अनुसार जैसे एक पहिये से रथ नहीं चल सकता, उसी प्रकार अकेला राजा समस्त राजकाज नहीं चला सकता है। इसके लिए उसे अमात्यों या सचिवों की नियुक्ति करना चाहिए तथा उनसे मन्त्रणा करनी चाहिए।[3] सचिव या

अमात्य एक सामान्य संज्ञा थी जिससे राज्य के सभी प्रमुख पदाधिकारियों का बोध होता था। यूनानी लेखकों ने अमात्यों का वर्णन सातवी जाति काउंसलर्स एण्ड एसेसर्स (Counsellors and Assessors) को रुप किया है। एरियन कहता है कि इन्हीं से उनके सेनापति, एडमिरल, व्यय के नियामक और कृषि के अध्यक्ष चुने जाते हैं। इसी प्रकार स्ट्रेबो का कथन है कि इन्हीं व्यक्तियों के हाथों में राज्य के पद, न्यायालय तथा संपूर्ण प्रशासन रहता है।[4]

अर्थशास्त्र से विदित होता है कि सम्राट मंत्रिणः एवं 'मंत्रिपरिषद के परामर्श से ही राजकार्य का संचालन करता था। मन्त्रिणः एक छोटी उपसमिति होती थी, जिसमें तीन या चार सदस्य होते थे, जिन्हें मंत्री कहा जाता था। आत्ययिक (जिनके संबंध में तुरन्त निर्णय करना हो) विषयों पर मन्त्रिणः' से परामर्श किया जाता था। संभवतः युवराज, प्रधानमन्त्री, सेनापति और सन्निधाता (कोषाध्यक्ष) मन्त्रिणः के सदस्य थे। इन्हें 48000 पण वार्षिक वेतन मिलता था।

मन्त्रिणः के अतिरिक्त एक मन्त्रि–परिषद भी होती थी, जिसकी सदस्य संख्या के विषय में कौटिल्य का मत है कि राजा को अपनी सामर्थ्य के अनुसार इसमें मन्त्री रखना चाहिए, क्योंकि बड़ी मन्त्रिपरिषद से राजा की मन्त्रशक्ति बढ़ती है।[5] मन्त्रिपरिषद के सदस्यों को 12000 पण वार्षिक वेतन प्राप्त होता था। अशोक के अभिलेखों में मन्त्रिपरिषद के लिए 'परिषा' शब्द प्रयुक्त हुआ है। अशोक के तीसरे तथा छठे शिलालेखों से परिषा की कार्यपद्धति की जानकारी मिलती है। छठें शिलालेख से ज्ञात होता है कि 'परिषा' राज्य की नीतियों व राजाज्ञाओं पर विचार–विमर्श करती थी और यदि आवश्यक समझती थी तों उनमें संशोधन का सुझाव देती थी। राजा राजकार्य में मन्त्रिणः और मन्त्रिपरिषद से सलाह लेता था और आमतौर पर बहुमत का निर्णय स्वीकार्य होता था। कितु राजा को यह अधिकार था कि वह राज्य–हित में बहुमत के निर्णय की उपेक्षा कर उसी सलाह को माने, जो उसकी दृष्टि में कार्यसिद्धिकर हो।' मन्त्री केवल उन्हीं व्यक्तियों को बनाया जाता था, जो 'सर्वोपधा शुद्ध हों अथति जो धर्म, अर्थ, काम, भय, आदि से प्रभावित हुए बिना काम करने में सक्षम हों।[7]

3- ç'kklfud vfèkdkjh &

अर्थशास्त्र से ज्ञात होता है कि शासन की सुविधा के लिए केन्द्रीय प्रशासन अनेक विभागों में बँटा हुआ था। प्रत्येक विभाग को तीर्थ' कहा जाता था। अर्थशास्त्र[8] में 18 तीर्थों का उल्लेख है। इन तीर्थों के प्रधान को 'महामात्य कहा जाता था[9], जिनके नाम निम्नानुसार हैं–

1. मन्त्री या पुरोहित 2. समाहर्ता 3. सन्निधाता 4. सेनापति 5. युवराज 6. प्रदेष्टा 7 नायक 8 कर्मन्तिक 9 व्यावहारिक 10 मन्त्रिपरिषदाध्यक्ष 11. दण्डपाल 12 अन्तपाल 13 दुर्गपाल 14. नागरक 15. प्रशास्त 16. दोवारिक 17. अन्तर्वशिक 18. अष्टविक।

इनमें मन्त्री एवं पुरोहित का विभाग (तीर्थ) सबसे महत्वपूर्ण था। यद्यपि ये दोनों पृथक पद थे पर सम्भवतः चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में ये दोनों विभाग कौटिल्य के अधीन थे। समाहर्ता राजस्व विभाग का प्रधान अधिकारी था, सन्निधाता राजकीय कोषाधिकरण का प्रमुख अधिकारी होता था, सेनापति युद्ध विभाग का महामात्य था, युवराज राजा का उत्तराधिकारी होता था, जो अपने पिता के शासन काल में प्रशासनिक कायों में उसकी सहायता करता था, प्रदेष्टा फौजदारी न्यायालय का न्यायाधीश था, नायक सेना का संचालन करता था (दुर्ग व स्कन्धावार का प्रबंध इसी के हाथ में था), कर्मान्तिक देश के उद्योग–धन्धों का प्रधान निरीक्षक था, व्यावहारिक दीवानी न्यायालय का न्यायाधीश था, मन्त्रिपरिषदाध्यक्ष मन्त्रिपरिषद का प्रमुख होता था, दण्डपाल सेना के लिए आवश्यक सामग्रियों को जुटाने वाला प्रधान अधिकारी था, अन्तपाल सीमावर्ती दुर्गों व स्कन्धावारों का रक्षक था, दुर्गपाल साम्राज्य के भीतर के दुर्गों का प्रबन्धक था, नागरक नगर का प्रमुख अधिकारी होता था, प्रशास्ता राजकीय लेखों को सुरक्षित रखने वाला तथा राजकीय आज्ञाओं को लिपिबद्ध करने कराने वाला प्रधान अधिकारी था, दौवारिक राजप्रसाद की देखरेख करने वाला प्रधान अधिकारी था, आन्तर्वशिक सम्राट की अंगरक्षक सेना का प्रमुख था तथा आटवि वन विभाग का प्रधान अधिकारी होता था। ये सभी महामात्य उच्च श्रेणी के अधिकारी थे।[10]

अर्थशास्त्र के 'अध्यक्ष प्रचार अध्याय में 26 अध्यक्षों का उल्लेख है। इनमें से 20 अध्यक्ष समाहर्ता के अधीन और 6 अध्यक्ष सन्निधाता के अधीन कार्य करते थे।

समाहर्ता का प्रमुख कार्य राजकीय करों को एकत्र करना था। इसके अधीन कार्यरत अध्यक्ष अपने–अपने विभागों के कायों का संचालन करते थे तथा उनसे सम्बन्धित राजकीय करों को एकत्रित करते थे। इन अध्यक्षों के नाम एवं कार्य निम्नानुसार हैं[11]

1. शुल्काध्यक्ष – व्यापारिक शुल्क का संग्रहण
2. पौतवाध्यक्ष – तोल एवं माप के परिमाणों का नियन्त्रण
3. मानाध्यक्ष – दूरी और काल को मापने के साधनों का नियन्त्रण
4. सूत्राध्यक्ष – विभिन्न व्यवसायों पर नियन्त्रणा
5. सीताध्यक्ष – कृषि विभाग का नियन्त्रण
6. सुराध्यक्ष – शराब को निर्माण, प्रयोग व व्यापार का नियन्त्रण
7. सूनाध्यक्ष – बूचडखानों का नियन्त्रण
8. गणिकाध्यक्ष – वेश्याओं, नर्तकों, नटों, गायकों आदि के कायों का नियन्त्रण
9. मुद्राध्यक्ष – देश से बाहर जाने व विदेश से स्वदेश आने वाले लोगों को मुद्रा (पासपोर्ट) प्रदान करना
10. विवीताध्यक्ष – चरागाहों का प्रबन्ध
11. नावध्यक्ष – जलमागों, नौकाओं और जहाजों का प्रबंध
12. गोऽध्यक्ष – पशुशालाओं का प्रबन्ध
13. अश्वाध्यक्ष – अश्वशालाओं का नियन्त्रण
14. हस्त्यध्यक्ष – हस्तिवन तथा हस्तिशालाओं का नियन्त्रण
15. कुप्याध्यक्ष – वनों तथा वनोपजों का प्रबन्ध
16. पण्याध्यक्ष – व्यापार एवं वाणिज्य का नियन्त्रण

17. लक्षणाध्यक्ष – मुद्रा–पद्धति, सिक्कों के निर्माण व प्रचलन का प्रबन्ध

18. अकराध्यक्ष – खानों का प्रबन्ध

19. देवताध्यक्ष – मन्दिरों का प्रबन्ध

20. सौवर्णिक – टकसाल का प्रबन्ध

सन्निधाता का प्रमुख कार्य राजकीय कोश की गतिविधियों पर नियन्त्रण करना होता था। राजकीय आय तथा व्यय का ध्यान रखते हुए वित्तीय नीतियों का निर्धारण इसका दायित्व था। इसकी सहायता के लिए छः अध्यक्ष नियुक्त थे, जो अपने–अपने विभागों का कार्य सम्भालते थे।

इनके नाम एवं कार्य निम्नानुसार हैं –

1. कोशागृहाध्यक्ष – बहुमूल्य वस्तुओं को राजकीय कोश में एकत्र करना इसका प्रमुख कार्य था।

2. पण्यगृहाध्यक्ष – राजकीय पण्य (कर्मान्तों द्वारा विक्रय के लिए तैयार किया गया माल) को एकत्र करना इसका कार्य था। ज्ञातव्य है कि पण्यगृहाध्यक्ष पण्य को एकत्रित करके रखता था। उसकी बिक्री की व्यवस्था समाहित को अधीनस्थ पाण्याध्यक्ष द्वारा की जाती थी।

3. कोष्ठागाराध्यक्ष – राजकीय खर्च के लिए जिन पदाथों की आवश्यकता होती थी, उन्हें कोष्ठागार में एकत्र करना इसका कार्य था।

4. कुष्यगृहाध्यक्ष – कुष्य पदार्थ (वनों से उपलब्ध विविध सामग्री) का संग्रहण इसका कार्य था। आयुधगाराध्यक्ष – अस्त्र–शस्त्र के निर्माण एवं संग्रहण के प्रबन्ध के लिए यह नियुक्त होता।

5. बन्धनगाराध्यक्ष – जलखान का प्रबन्ध करना इसका उत्तरदायित्व था।

मौर्यकालीन प्रशासन में इन अध्यक्षों का महत्वपूर्ण स्थान था। इन्हें 1000 पण वार्षिक वेतन मिलता था। मैगस्थनीज द्वारा वर्णित मजिस्ट्रेटों को अर्थशास्त्र के अध्यक्ष के रूप में समीकृत किया जा सकता है। स्ट्रेबो ने मैगस्थनीज को उद्घृत करते हुए मजिस्ट्रेट के विषय में लिखा है[12] "इन मजिस्ट्रेटों में कुछ के नियन्त्रण में

बाजार, कुछ के नगर और कुछ के सेना का प्रबन्ध रहता है। कुछ नदियों की देखरेख करते हैं, भूमि नापते हैं, जैसा कि मिश्र में होता है और बंद जलसंग्रहों की जाँच करते हैं, जिनसे नहरों द्वारा पानी बाँटा जाता है जिससे कि सबको बराबर मात्रा में जल प्राप्त हो सके। इन पदाधिकारियों के नियन्त्रण में आखेटक भी रहते हैं और इन्हें उनके कार्यों के अनुसार पुरस्कार अथवा दण्ड देने का अधिकार रहता है। ये कर एकत्र करते हैं और भूमि सम्बन्धी व्यवस्थाओं (लकड़ी काटना, बढ़ईगिरी, पीतल तथा खान के कार्यों) का निरीक्षण करते हैं। ये सार्वजनिक मागों का निरीक्षण करते हैं और प्रति दस स्टेडिया पर एक स्तंभ स्थापित कराते हैं, जिससे उपमागों और दूरियों का ज्ञान हो सके।''

केन्द्रीय महामात्य तथा अध्यक्षों के अधीन अनेक कर्मचारी होते थे, जिन्हें युक्त, उपयुक्त तथा तत्पुरुष कहा गया है। अशोक के शिलालेखों में भी युक्त का उल्लेख है। इन कर्मचारियों के माध्यम से केंद्र और स्थानीय शासन के बीच संपर्क बना रहता था।[13]

4- lsuk

चन्द्रगुप्त मौर्य के पास एक विशाल, शक्तिशाली और सुसंगठित सेना थी। यूनानी लेखकों के अनुसार चन्द्रगुप्त की सेना में 6 लाख पदाति, 30 हजार घुड़सवार और 9 हजार हाथी थे। रथों की संख्या के विषय में ग्रीक लेखकों में मतभेद है। कर्टियस ने उनकी संख्या 2,000 लिखी है और प्लूटार्क ने 8,000। इन विदेशी वृतान्तों में अतिशयोक्ति हो सकती है। तब भी, चन्द्रगुप्त की सेल्यूकस पर विजय, अर्थशास्त्र में विस्तार से वर्णित सैन्य संगठन एवं अशोक कालीन भयावह कलिंग युद्ध से इस बात का अनुमान किया जा सकता है कि मौर्य शासन–व्यवस्था में विशाल सैनिक संगठन विद्यमान था। मैगस्थनीज के अनुसार इस सेना का प्रबन्ध एक पृथक विभाग करता था, जिसमें 30 सदस्य थे। सैन्य–विभाग के ये 30 सदस्य पाँच–पाँच सदस्यों की छः उपसमितियों में विभक्त थे। इन उपसमितियों के कार्य निम्नानुसार थे[14] –

1. पहली उपसमिति पदाति सेना की व्यवस्था करती थी,

2. दूसरी उपसमिति अश्वारोही सेना का प्रबन्ध करती थी,
3. तीसरी उपसमिति के अधीन रथ सेना की देख–रेख का कार्य था,
4. चौथी उपसमिति का कार्य हस्तिसेना की व्यवस्था करना था,
5. पाँचवीं उपसमिति सेना के लिए आवश्यक खाद्य सामग्री, युद्ध के लिए उपयोगी अस्त्र–शस्त्र व उपकरण तथा यातायात के साधन जुष्टाने का कार्य करती थी,
6. छठी उपसमिति पर जल–सेना के लिए उपयुक्त प्रबन्ध करने का उत्तरदायित्व था।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में इस प्रकार के सैन्य विभाग का वर्णन नहीं है। परन्तु कौटिल्य ने जन विभागों के अध्यक्षों को पत्त्यध्यक्ष, अश्वाध्यक्षं, रथाध्यक्ष, हस्त्यध्यक्ष, गोऽध्यक्ष और नावध्यक्ष कहा है, वे संभवतः उन्हीं उपसमितियों को दर्शाते हैं जिनका मैगस्थनीज ने उल्लेख किया है।

कौटिल्य ने सेना को चार भागों में विभक्त किया है – पत्ती या पदाति सेना, अश्वसेना, रथ सेना और द्विप या हस्ति सेना।[15] सेना के इन अंगों की व्यवस्था संभवतः पत्यध्यक्ष, अश्वाध्यक्ष, रथाध्यक्ष और हस्त्यध्यक्ष संभालते थे। अर्थशास्त्र में हस्तिमुख्य, अश्वमुख्य, रथमुख्य आदि अधिकारियों का भी उल्लेख है, इनका वेतन हस्त्यध्यक्ष आदि से दुगना होता था। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि हस्तिमुख्य, अश्वमुख्य और रथमुख्य सैनिक पदाधिकारी थे जो रणक्षेत्र में सेना का संचालन करते थे जबकि हस्त्याध्यक्ष आदि सेना की प्रबंध संबंधी कार्यकरते थे। चतुरंग बल (पदाति, रथ, अश्व व हस्ति) बल के अतिरिक्त कौटिल्य ने मौल बल, भूतक बल, श्रेणी बल, मित्र बल, अमित्र बल और अटवि बल का भी निरूपण किया है[16] ऐसा प्रतीत होता है कि ये बल सेना के स्थायी सदस्य नहीं होते थे, बल्कि युद्ध के अवसर पर इनकी भर्ती कर ली जाती थी। इनका परिचय निम्नवत है –

eky cy & देश के वे निवासी जो देश भक्ति से प्रेरित होकर युद्ध के अवसर पर देश के लिए लड़ना चाहते थे, सैनिक के रूप में इस बल में भर्ती कर लिए जाते थे।

Hkrd cy & वेतन के आकर्षण से सेना में भर्ती हुए सैनिक इसमें सम्मिलित किए जाते थे।

J.kh cy & ऐसा प्रतीत होता है कि श्रेणियाँ (व्यावसायियों व शिल्पियों के संगठन) अपनी रक्षा के लिए कुछ निजी रक्षक रखा करती थीं, जिनकी सेवायें युद्ध के अवसर पर राज्य प्राप्त कर लेता था।

fe= cy & मित्र राज्य की सेना मित्र बल कहलाती थी।

vfe= cy & पराजित शत्रु राज्य की सेना को युद्ध में प्रयुक्त करने पर उसे अमित्र बल कहा जात था।

vVfo cy & युद्ध में कुशल आटविक (जंगली) जातियों की सैनिक क्षमता का प्रयोग अटवि बल की भॉति किया जाता था।

युद्ध के अवसर पर राजा स्वयं सेना का नेतृत्व करता था और वही सेना का सर्वोच्च अधिकारी था। उसके बाद सैन्य विभाग में सेनापति का स्थान था। सेनापति 'मन्त्रिणः' का सदस्य होता था और उसे 48,000 पण वार्षिक वेतन दिया जाता था। सेना का संचालन करने वाला अधिकारी नायक' कहलाता था। सेनापति के पश्चात् नायक का पद ही महत्वपूर्ण था, जिसे 12000 पण वार्षिक वेतन प्राप्त होता था। सेना के विभिन्न अंगों का संचालन करने वाले हस्तिमुख्य, अश्वमुख्य, रथमुख्य आदि को 8,000 पण वार्षिक वेतन दिया जाता था। पत्यध्यक्ष, अश्वाध्यक्ष, रथाध्यक्ष एवं हस्त्यध्यक्ष का वेतन 4000 पण वार्षिक था। रथिक या रथारोही को 2000 पण व आरोहक (हाथी या घोडे का सवार) को 500–1000 पण तक वार्षिक वेतन प्राप्त होता था। प्रशिक्षित (शिल्पवन्त) पदाति को 500 पण वार्षिक वेतन मिलता था।

राजा की रक्षा के लिए एक पृथक् अंगरक्षक सेना संगठित थी, जिसका प्रधान अधिकारी आन्तर्वशिक होता था। इसका वेतन 24000 पण वार्षिक था। दण्डपाल, अन्तपाल और दुर्गपाल को 12000 पण वार्षिक वेतन की प्राप्ति होती थी।[17]

अर्थशास्त्र में सैनिकों के द्वारा प्रयुक्त उपकरणों व अस्त्र–शस्त्र, युद्ध के प्रकारों तथा व्यूह–रचना की विधियों का विशद विवरण प्राप्त होता है।[18]

5- xIrpj foHkkx &

सुसंगठित गुप्तचर विभाग मौर्य शासन व्यवस्था का महत्वपूर्ण अंग था। इसका कार्य आम जनता से लेकर सभी अधिकारियों के क्रियाकलापों पर दृष्टि रखना और पड़ौसी राज्यों के संबंध में सारी जानकारी प्राप्त करना होता था। यह विभाग एक पृथक अमात्य के अधीन रखा गया जिसे महामात्यासर्प कहा जाता था। यूनानी लेखकों ने गुप्तचरों को निरीक्षक तथा ओवरसियर्स कहा है।[19] अर्थशास्त्र में दो प्रकार के गुप्तचरों का उल्लेख मिलता है– संस्था और संचार। संस्था वे गुप्तचर थे जो एक ही स्थान पर संस्थाओं में संगठित होकर कापटिक छात्र, उदास्थित, गृहपतिक, वैदेहक और तापस के वेश में काम करते थे। 'संचार ऐसे गुप्तचर थे जो अनेक वेश धारण करके एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूम–घूम कर जानकारियाँ एकत्र करते थे।

गुप्तचरों की संस्थाएँ समाज के विभिन्न वर्गो, जैसे नाई, रसोईया, प्रसाधक, नट, गायक, सेवक आदि को भेदी (मुखबिर) की तरह प्रयुक्त करती थीं। पुरुषों के अतिरित स्त्रियाँ भी गुप्तचरी करती थीं। वेश्याओं का प्रयोग प्रायः गुप्त भेद प्राप्त करने के लिए किया जाता था।

गीत, वाद्य, धूम्र, अग्नि तथा कबूतरों के द्वारा गूढ़ संकेत भेजे जाते थे।[20] असत्य सूचना देने पर गुप्तचरों को दण्डित किया जाता था अथवा पदमुक्त कर दिया जाता था।

6- jktdh; vk; 0;k; &

विशाल मौर्य साम्राज्य के शासन–संचालन के लिए प्रचुर धन की आवश्यकता थी। कौटिल्य ने राजकीय आय के निम्नलिखित साधन बताये हैं[21] –

1. दुर्ग – नगरों से बिक्री कर, चुंगी, जुर्माने आदि के रुप में प्राप्त आय
2. राष्ट्र – ग्रामीण क्षेत्रों से भूमि कर, सिंचाई कर, चारागाह कर आदि के रुप में प्राप्त आय
3. खनि – खानों से प्राप्त आय

4. सेतु – उद्यानों से प्राप्त आय

5. वन – वनों से प्राप्त आय

6. व्रज – पशुधन (गाय, घोड़ा, भैंस, बकरी आदि) से प्राप्त आय

7. वणिक पथ – स्थल एवं जल मार्ग से कर के रुप में प्राप्त आय

इन सात साधनों के आधार पर डॉ. सत्यकेतु विद्यालंकार ने राज्य की आय के निम्नलिखित स्रोत बताए है[22] –

1. भूमि कर 2. आयात और निर्यात कर 3. बिक्री कर 4. प्रत्यक्ष कर 5. राज्य द्वारा संचालित उद्योग, व्यवसाय तथा व्यापार, 6. दण्ड या जुर्माना, 7. मुद्रा–प्रचलन।

1- Hkfe dj & मौर्य साम्राज्य में दो प्रकार की भूमि थीं – एक, जो राज्य के प्रत्यक्ष अधिकार में थी, दूसरी, जो किसानों के पास थी। राज्य को अपनी भूमि से जो आय होती थी, उसे 'सीता कहते थे, जबकि किसानों के अधिकार वाली भूमि से 'भाग वसूल किया जाता था। राजकीय भूमि पर खेती कराने और वहां से उपज प्राप्त करने के लिए 'सीताध्यक्ष' नामक अमात्य नियुक्त होता था। भाग प्रायः उपज का 1/6 होता था, परन्तु भूमि की उपज शक्ति एवं कृषक के पास उपलब्ध सिंचाई क्षमता के आधार पर इसमें कुछ वृद्धि भी कर दी जाती थी। अशोक ने भगवान बुद्ध की जन्मस्थली होने के कारण लुम्बिनी ग्राम के भाग को घटाकर 1/8 कर दिया था।

राजकीय भूमि में से कुछ भूमि आचार्य, पुरोहित, श्रोत्रिय आदि को निर्वाह हेतु दी जाती थी। इन भूमियों को 'ब्रह्मदेय कहते थे। इन भूमियों पर न तो कोई भूमि कर लिया जाता था और न कोई जुर्माना।

2- vk;kr vkj fu;kr dj & आयात और निर्यात की जाने वाली सामग्रियों पर कर लिया जाता था। आयात कर को 'प्रवेश्य' तथा निर्यात कर को 'निष्क्राम्य' कहते थे। आयात कर प्रायः 20 प्रतिशत होता था। परन्तु निर्यात कर की दर निश्चित रूप से ज्ञात नहीं होती।

3- fcØh dj & मौर्य युग में किसी भी पदार्थ को बेचने पर कर लिया जाता था। कोई भी वस्तु इस बिक्री कर से न बच सके इसके लिए यह नियम बनाया गया कि उत्पादन–स्थल पर कोई भी पदार्थ नहीं बेचा जायेगा। समस्त उत्पाद पहले शुल्काध्यक्ष के पास लाए जाते थे और उन पर शुल्क (चुंगी) लिया जाता था। शुल्क की दर इस प्रकार थी –

(अ) गिनकर बेची जाने वाली वस्तुओं पर $9\frac{1}{11}\%$

(ब) तौल कर बेची जाने वाली वस्तुओं पर 5%

(स) नाप कर बेची जाने वाली वस्तुओं पर $6\frac{1}{2}\%$

4- çR;{k dj & विभिन्न व्यवसायों पर प्रत्यक्ष कर लगाए गये थे। उनमें से कुछ इस प्रकार हैं–

(क) तोल और माप के बाटों व मानों को प्रमाणित करवाने के लिए 4 माषक कर लिया जाता था। इन बाटों व मानों के प्रयोग के लिए प्रतिदिन एक 'काकिणी भी वसूल की जाती थी।

(ख) जुआरियों पर कर – जुआ खेलने की अनुमति प्राप्त करने के लिए कर देना पडता था तथा जुए में जीते गये धन की 5% राशि राज्य को देनी होती थी।

(ग) मनोरंजन पर कर – वेश्याओं, नटों, गायकों, नर्तकों, गायकों वादकों आदि से दैनिक आमदनी का दुगना प्रतिमास कर के रुप में लिया जाता था।

(घ) व्यवसाय पर कर – धोबी, सुनार, बुनकर, चिकित्सक आदि व्यवसायियों को अपना धन्धा करने के लिए राज्य को कर देना होता था। उपयुक्त कर समय पर जमा न करने तथा नियम विरुद्ध कार्य करने पर जुर्माना भी वसूल किया जाता था।

5- jkT; }kjk lapkfyr m|ksx] 0;olk;k rFkk 0;kikj ls vk; &

राज्य स्वयं खनिज, वनोपज, नमक, अस्त्र–शस्त्र और शराब का निर्माण तथा व्यापार करता था। इन सबसे राज्य को अच्छी आमदनी होती थी।

6- tqekuksa ls vk; &

अनेक अपराधों के लिए दण्ड स्वरुप लिया जाने वाला जुर्माना थी राज्य की आय का साधन था।

7- eæk&çpyu ls vk; &

मुद्रा–पद्धति पर राज्य का पूर्ण नियन्त्रण था। सिक्के राजकीय टकसाल में ढाले जाते थे। व्यक्ति अपनी धातु ले जाकर सिक्के ढलवा सकता था, परन्तु इसके लिए उसे लगभग $13\frac{1}{2}\%$ शुल्क देना होता था। इसके अतिरिक्त आपत्काल में राज्य सम्पति भी जब्त कर सकता था। इस समय मंदिरों व धार्मिक संस्थाओं से भी कर लिए जाते थे तथा जनता से राज्य को उदारतापूर्वक दान देने का अनुरोध किया जाता था।

राजकीय व्यय निम्नलिखित मदों में होता था –

(1) राजा और उसके परिवार का भरण–पोषण। (2) राजकर्मचारियों के वेतन (3) सैन्य व्यवस्था (4) शिक्षा (5) निर्बल, वृद्ध, रोगी तथा अनाथों का भरण–पोषण (6) सार्वजनिक आमोद–प्रमोद हेतु उद्यान, पुण्यस्थान, चिड़ियाघर (वाट) आदि का निर्माण (7) सड़क, नहर, झील, कूप इत्यादि का निर्माण (8) औषधालयों का निर्माण।

इस प्रकार स्पष्ट है कि राज्य का कर ढांचा अत्यंत सुदृढ़ था तथा राज्य की आमदनी के बहुत से साधन थे। यद्यपि राजा, राजकर्मचारियों तथा सेना पर इस आय का बड़ा भाग खर्च होता था, तथापि सार्वजनिक हित के कायों पर भी राज्य पर्याप्त धन व्यय करता था।

7- fofèk vkj U;k; & अर्थशास्त्र से एक सुसंगठित विधि एवं न्याय व्यवस्था की जानकारी प्राप्त होती है। कौटिल्य ने विधि (कानून) के चार अंग बताये हैं– (1) धर्म (2) व्यवहार (3) चरित्र (4) राजशास्त्र। इनका अर्थ स्पष्ट करते हुए स्वयं कौटिल्य ने लिखा है– 'धर्म का आचार सत्य है, व्यवहार साक्षियों पर आश्रित होता है, मनुष्यों में परम्परागत रुप से चले आए नियम चरित्र कहलाते हैं और राजा द्वारा प्रचारित आज्ञाओं को राजशासन या शासन कहा जाता है।''[23]

वस्तुतः 'धर्म से तात्पर्य उन सार्वभौम नैतिक सिद्धान्तों के समूह से है जो प्रायः सभी के द्वारा मान्य होते हैं। दो व्यक्ति या व्यक्ति समूह परस्पर मिलकर समझौते द्वारा जो तय करें, उसे व्यवहार कहते थे। इस व्यवहार का निर्णय साक्षियों के आधार पर ही करना संभव था। जिसे वर्तमान में परम्परागत कानून कहते हैं, उसी को कौटिल्य ने चरित्र कहा है।

कानून में राजशासन का स्थान सर्वोच्च था। यदि राजा की ओर से कोई ऐसी आज्ञा प्रसारित हो, जो पारस्परिक व्यवहार के विरुद्ध हो, तो राजकीय आज्ञा ही मान्य समझी जायेगी, चरित्र या व्यवहार नहीं।

मौर्य काल में दण्ड विधान अत्यन्त कठोर था। अर्थशास्त्र में विभिन्न अपराधों के लिए निर्धारित दण्ड की विस्तृत चर्चा है। सामान्य अपराधों पर आर्थिक जुर्माने लगाए जाते थे। कौटिल्य तीन प्रकार के अर्थदण्डों का उल्लेख करता हैं –

(1) पूर्व साहस दण्ड – 48 से 96 पण तक

(2) मध्यम साहस दण्ड – 200 से 500 पण तक

(3) उत्तम साहस दण्ड – 500 से 1000 पण तक

इसके अतिरिक्त कैद, कोड़े मारना, अंग–भंग तथा मृत्यु दण्ड की सजा दी जाती थी।[24] मौर्य साम्राज्य में न्याय के लिए विभिन्न न्यायालय थे। सबसे छोटा न्यायालय ग्राम संघ का होता था। जिसमें ग्रामिक ग्रामवृद्धों के साथ मिलकर अपराधियों को दण्ड देता था। इसके ऊपर पाटलिपुत्र का केंद्रीय न्यायालय होता था। सबसे ऊपर राजा होता था, जो किसी भी मामले में अंतिम निर्णय देने का अधिकार रखता था। ग्राम संघ और राजा के न्यायालय के अतिरिक्त बीच के सभी न्यायालय दो प्रकार के थे– धर्मस्थीय और कण्टकशोधन। इन न्यायालयों का अन्तर बहुत स्पष्ट नही है, तब भी सामान्यतः इन्हें क्रमशः दीवानी और फौजदारी न्यायालय कह सकते हैं। धर्मस्थीय न्यायालयों के न्यायाधीश धर्मस्थ या व्यावहारिक कहलाते थे और कण्टकशोधन के प्रदेष्टा। दोनों प्रकार के न्यायालयों में तीन–तीन धर्मस्थ और प्रदेष्टा न्याय कार्य का सम्पादन करते थे।[25] यूनानी लेखकों ने ऐसे न्यायालयों की भी चर्चा की है जो भारत में रहने वाले विदेशियों के मामलों पर विचार करते थे।

जो अमात्य धर्मोपधाशुद्ध अर्थात धार्मिक प्रलोभनों द्वारा शुद्ध चरित्र वाले सिद्ध होते थे, उन्हें ही न्यायाधीश नियुक्त किया जाता था। गलत निर्णय देने, निरपराध को दण्ड देने या अपराधी को मुक्त कर देने के दोष में न्यायाधीशों एवं न्यायालय के अन्य कर्मचारियों को दण्ड दिये जाते थे। जिस अपराध में कोई प्रमाण नहीं मिलता था, वहाँ जल, अग्नि, विष आदि द्वारा दिव्य परीक्षाएँ ली जाती थीं।

8- ykd fgrdkjh dk;l &

अत्यधिक केंद्रीयकृत मौर्य शासन में राज्य जन–कल्याणकारी कायों का दायित्व भी संभालता था। सिंचाई तथा जल आपूर्ती व्यवस्था के लिए कौटिल्य ने सेतुबंध (बाँध निर्माण) कूपखान, तालाब (तटाक) निर्माण तथा नहर (कुल्या) निकाले जाने का उल्लेख किया है।[26] रुद्रदामन के जूनागढ़ शिलालेख से ज्ञात होता है कि पश्चिमी भारत में सिंचाई की सुविधा के लिए चन्द्रगुप्त के सुराष्ट्र प्रान्त के प्रान्तपति वैश्य पुष्यगुप्त ने सुदर्शन झील का निर्माण करवाया था। यह झील गिरनार के समीप उर्जयत पर्वत से निकलने वाली सुवर्णसिकता और पलाशिनी नरियों पर कृ त्रिम बाँध बनाकर निर्मित की गई थी। अशोक के काल में उसके प्रान्तपति तुषास्फ ने इससे नहरे निकलवायी थीं।[27] यात्रियों व व्यापारियों की सुविधा के लिए राज्य द्वारा जल मार्ग स्थल मार्ग एवं यातायात के साधनों का भी प्रबन्ध किया जाता था। जनता की स्वास्थ्य रक्षा के लिए औषधालयों एवं चिकित्सा के काम आने वाली औषधियों की समुचित व्यवस्था के प्रति भी राज्य सचेष्ट था। अग्नि, उदक, (बाढ़), व्याधि (महामारी), दुर्भिक्ष (अकाल), मूषिका (चूहों का उपद्रव) व्याल (हिंस्र जन्तु) सर्प और रक्ष (भूत, प्रेत, राक्षस) इन आठ 'दैव महाभयों से जनपदों की रक्षा करना राजा का कर्तव्य माना जाता था।[28]

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि चन्द्रगुप्त मौर्य की शासनदृव्यवस्था लोकोपकारी थी। सरकार के विषय में उसकी धारणा पितृपरक थी। स्वयं निरंकुश होते हुए भी व्यवहार में वह धर्म, लोकाचार और न्याय के अनुसार ही शासन करता था।

प्रान्तीय प्रशासन चन्द्रगुप्त मौर्य को विशाल साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र थी, परन्तु वहाँ से कम्बोज, बंग और आन्ध्र तक विस्तृत साम्राज्य का शासन सुचारू

रूप से नहीं किया जा सकता था। अतः शासन की दृष्टि से संपूर्ण साम्राज्य अनेक चक्रों (प्रान्तों) में विभाजित था। साम्राज्य के प्रान्तों की निश्चित संख्या हमें ज्ञात नहीं है। अशोक के अभिलेखों से हमें निम्नलिखित प्रान्तों के नाम ज्ञात होते हैं–

¼1½ mnhP; ¼mÙkjkiFk½ & इसमें पश्मिोत्तर प्रदेश सम्मिलित था। इसकी राजधानी तक्षशिला थी।

¼2½ vofUrjë & इस चक्र की राजधानी उज्जयिनी थी।

¼3½ dçyx & यहाँ की राजधानी तोसली थी।

¼4½ nf{k.kkiFk & इसमें दक्षिण भारत का प्रदेश सम्मिलित था। जिसकी राजधानी सुवर्णगिरि थी।

¼5½ çkP; ;k çkph & इससे तात्पर्य पूर्वी भारत से है। इसकी राजधानी पाटलिपुत्र थी।

उपर्युक्त प्रान्तों में से उत्तरापय अवन्तिरट्ठ और प्राच्य निश्चित रूप से चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में विद्यमान थे। यह असम्भव नहीं कि दक्षिणापथ भी उसके साम्राज्य का एक अंग रहा हो। इन प्रान्तों के राज्यपाल प्रायः राजकुल से सम्बंधित कुमार होते थे। किंतु कभी–कभी अन्य योग्य व्यक्तियों को भी राज्यपाल बनाया जाता था। चन्द्रगुप्त ने पुष्यगुप्त वैश्य को काठियावाड का राज्यपाल बनाया था। अर्थशास्त्र को अनुसार राज्यपाल (प्रान्तपति) को 12,000 पण वार्षिक वेतन मिलता था। वे अनेक अमात्यों एवं अध्यक्षों की सहायता से प्रान्तों का शासन चलाते थे। उनके पास अपनी मन्त्रिपरिषद भी थी।[29]

e.My rFkk fty dk ç'kklu

चक्रों (प्रान्तों) के अन्तर्गत अनेक मण्डल' होते थे। जिनकी समता हम आधुनिक कमिश्नरियों से स्थापित कर सकते हैं। मण्डल जिलों में विभक्त थे, जिन्हें 'आहार कहा जाता था। प्रो. ए.एस. अल्तेकर ने अशोक के तृतीय शिलालेख में क्रमशः वर्णित प्रादेशिक रज्जुक और युक्त के आधार पर यह अनुमान लगाया है कि मण्डल के प्रमुख अधिकारी प्रादेशिक (या प्रदेष्टा) कहलाते थे। आहार के प्रधान अधिकारी रज्जुक थे और युक्त इनके अधीन कार्यरत कर्मचारी थे।[30] आहार के नीचे

स्थानीय होता था जिसमें 800 ग्राम थे। स्थानीय के अन्तर्गत दो द्रोणमुख होते थे। प्रत्येक में चार–चार सौ ग्राम होते थे। द्रोणमुख से नीचे 'खार्वटिक तथा खार्वटिक के अन्तर्गत 20 संग्रहण होते थे। प्रत्येक खार्वटिक में दो सौ ग्राम तथा प्रत्येक संग्रहण में दस ग्राम थे। शासन की सबसे छोटी इकाई ग्राम थी। लघु प्रशासनिक इकाईयों का परिचय निम्न तालिका से स्पष्ट है–

ग्राम – सबसे छोटी प्रशासनिक इकाई

संग्रहण – 10 ग्राम

खार्वटिक (20 संग्रहण) – 200 ग्राम

द्रोणमुख (दो खार्वटिक) – 400 ग्राम

स्थानीय (दो द्रोणमुख) – 800 ग्राम

इन संस्थाओं के प्रमुख न्यायिक, कार्यकारी और राजस्व सम्बन्धी अधिकारों का उपभोग करते थे। इस कार्य में युक्त नामक कर्मचारियों की सहायता प्राप्त होती थी। ग्राम का प्रमुख ग्रामिक, संग्रहण का प्रमुख 'गोप' और स्थानीय (या द्रोणमुख या खार्वटिक) का प्रमुख स्थानिक होता था। मैगस्थनीज ने जिले के अधिकारियों को 'एग्रोनोमोई कहा है।

नगरीय प्रशासन – कौटिल्य के अर्थशास्त्र में 'नागररक' तथा अशोक के अभिलेखों में नगरव्यावहारिक शब्द मिलते हैं। ये संभवतः नगर का प्रशासन सम्भालने वाली परिषद के प्रमुख थे। शान्ति व्यवस्था कायम रखना, सफाई का प्रबन्ध करना और नगर को आग लगने से बचाना इसके प्रमुख कार्य थे।[31]

मैगस्थनीज ने पाटलिपुत्र का शासन संभालने वाली एक नगर–परिषद् का उल्लेख किया है। इसमें पाँच–पाँच सदस्यों वाली छः समितियाँ थीं।

पहली समिति विभिन्न उद्योग–धन्धों का निरीक्षण तथा कारीगरों के हितों की देखरेख करती थी। दूसरी समिति विदेशियों के भोजन, निवास और चिकित्सा का प्रबंध करती थी। यदि कोई विदेशी मर जाता था तो उसके दाह–संस्कार तथा उसकी सम्पत्ति को उसके उचित अधिकारियों को देने का काम भी यही समिति

करती थी। राज्य की सुरक्षा के लिए विदेशियों के आचरण व उनकी गतिविधियों के ऊपर कड़ी दृष्टि रखना इस समिति का कार्य था। तीसरी समिति जन्म–मरण की संख्या का ब्यौरा रखती थी। चौथी समिति नगर के व्यापार–वाणिज्य की देख–रेख करती थी। विक्रय की वस्तुओं तथा माप–तौल की जांच करना इसी का कार्य था। किसी भी व्यक्ति को दो वस्तुओं को बेचने की अनुमति तब तक नहीं मिलती थी जब तक कि वह दूना कर अदा न कर दे। पाचवीं समिति का कार्य बाजार में बिकने वाली वस्तुओं में मिलावट रोकना और मिलावट करने वालों को दण्ड दिलवाना था। छठी समिति पर क्रय–विक्रय की वस्तुओं पर कर लेने का दायित्व था। विक्रय मूल्य का 1/10 भाग विक्रय कर के रूप में वसूला जाता था और कर की चोरी करने वालों को मृत्युदण्ड दिया जाता था। मैगस्थनीज नगर के अधिकारियों को 'एस्टिनोमोई कहता है।[32]

पाटलिपुत्र की इस व्यवस्था से अनुमान होता है कि देश के अन्य नगरों का शासन भी संभवतः इसी प्रकार विभिन्न समितियों द्वारा किया जाता होगा।

xke i'kklu &

ग्राम, प्रशासन की सबसे छोटी इकाई होता था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र से स्पष्ट होता है कि मौर्य युग में ग्रामों में स्वायत्त संस्थाओं की सत्ता थी। इन्हें 'ग्रामसंघ कहते थे। ग्रामसंघ के सदस्य ग्रामवृद्ध कहलाते थे[33] जो ग्राम की रक्षा, सार्वजनिक हित, मनोरंजन तथा सम्पति सम्बन्धी विषयों का प्रबन्ध सुनिश्चित करते थे।[34] इस ग्रामसंघ का मुखिया 'ग्रामिक' कहलाता था। ग्रामिक को ग्राम की भूमि का प्रबंध करने और सिंचाई के साधनों की व्यवस्था करने का अधिकार था। ग्रामसंघ न्याय का कार्य भी करता था और ग्रामों के छोटे–मोटे विवादों का फैसला करना और जुर्माना लगाना इसके अधिकार में था। केन्द्रीय शासन की ओर से भी ग्राम के प्रशासन के लिए गोप' नामक कर्मचारी नियुक्त किया जाता था। प्रायः 5 से 10 ग्रामों पर एक गोप नियुक्त किया जाता था। गोप के मुख्य कार्य इस प्रकार थे– ग्रामों की सीमा निर्धारित करना, ग्राम के घरों व निवासियों की संख्या का ब्यौरा रखना, भूमि का हिसाब और करों का विवरण रखना।[35]

चन्द्रगुप्त मौर्य कालीन ग्राम–शासन के विषय में सौहगौरा (गोरखपुर) तथा महास्थान (बंग्लादेश के बोगरा जिले में स्थित) के लेखों से कुछ सूचनाएँ प्राप्त होती हैं। इनमें जनता की सुरक्षा के लिए बनवाये गये कोष्ठागारों का उल्लेख है। अर्थशास्त्र में भी कोष्ठागार निर्माण की चर्चा है।[36] इससे लगता है कि कर वसूली अन्न के रूप में की जाती थी तथा इन्हें कोष्ठागारों में संचित किया जाता था। इस अन्न को सूखा, अकाल जैसी दैवी विपत्तियों के समय ग्रामीण जनता के बीच वितरित किया जाता था।[37]

इस प्रकार स्पष्ट है कि राजधानी से लेकर ग्रामों तक चंद्रगुप्त मौर्य ने एक केंद्रीय नियंत्रण वाले प्रशासन तंत्र की स्थापना की। कौटिल्य ने इस तंत्र द्वारा न्याय, रक्षा एवं प्रजा के कल्याण का आदर्श स्थापित करने का प्रयास किया। तब भी अत्यधिक केद्रीय नियन्त्रण, दण्ड की कठोरता तथा संपूर्ण साम्राज्य में गुप्तचरों की संचरणशीलता से लोगों की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता अवश्य ही बाधित हुई होगी। अशोक ने प्रशासन की इन कमियों को पहचान कर उसमें यथोचित सुधार करके उसे अधिक लोकहितकारी बनाने का प्रयास किया।

v'kksd dk ç'kklfud lèkkj

अशोक ने चन्द्रगुप्त मौर्य और कौटिल्य द्वारा स्थापित शासन पद्धति का ही अनुकरण किया। साम्राज्य की आवश्यकता और नवीन परिस्थितियों के अनुरुप उसने इस व्यवस्था में कुछ सुधार किए थे, जिन्हें निम्नलिखित बिंदुओं में स्पष्ट किया गया है :

çtk dh çfr i=or 0;ogkj & निरंकुश और सर्वशक्तिसम्पन्न होते हुए भी अशोक प्रजाहित को सर्वोच्च मानता था। उसके अभिलेखों से ज्ञात होता है कि वह अपनी प्रजा को पुत्रवत् मानता था। अपने छठे शिलालेख में अशोक अपनी इस भावना को व्यक्त करते हुए कहता है– सर्वलोकहित मेरा कर्तव्य है, ऐसा मेरा मत है। सर्वलोकहित से बढ़कर दूसरा काम नहीं है। मैं जो कुछ भी पराक्रम करता हूँ वह इसलिए कि भूतों के ऋण से मुक्त हो जाऊँ। मैं उनको इस लोक में सुखी बनाऊँ और वह दूसरे लोक में स्वर्ग प्राप्त कर सके। इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि राजत्व विषयक उसका आदर्श कितना उदात्त था। प्रजा के ऋण को प्रजा की भलाई करके चुकाने का आदर्श प्रस्तुत करके वह राजत्व की सर्वथा नवीन और मौलिक कल्पना प्रस्तुत करता है। धौली के पृथक लेखों में वह स्वयं को पिता तथा प्रजा को अपनी सन्तान कहता है। राजा और प्रजा के सम्बन्ध को पिता और पुत्र के सम्बन्ध के सदृश प्रतिपादित करने का विचार भारतीय राजनीतिक परम्परा में एक नई बात थी। इस प्रकार का विचार तो कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी नहीं मिलता है।

jktdeZpkfj;ksa esa mRlkgghurk dh çfr"Bk & अशोक कौटिल्य द्वारा प्रतिपादित इस सिद्धान्त को स्वीकार करता था कि यदि राजा उत्थानशील हो तो सेवक भी उत्थानशील रहते है और यदि राजा प्रमादी हो तो सेवक भी प्रमादी हो जाते हैं।[39] इस काण। अशोक सदैव आलस्य का त्याग करके उद्योग में संलग्न रहता था तथा अपने राजकर्मचारियों को भी निरंतर कार्य में लगे रहने के लिए प्रेरित करता था। छठे शिलालेख में वह प्रतिवेदकों (सूचना दाताओं) को आदेश देते हुए कहता है। 'प्रत्येक समय तथा प्रत्येक स्थान पर चाहे मैं भोजन करता होऊ, चाहे अन्तःपुर, शयनकक्ष, ब्रज (पशुशाला) में रहूँ सवारी पर रहूँ और चाहे मैं उद्यान

में होऊँ सर्वत्र जनता के कार्य की सूचना मुझे दें। मैं सर्वत्र जनता के कार्य करता हूँ।[40] इससे स्पष्ट है कि राजकीय कर्तव्यों के पालन में न केवल वह स्वयं जागरूक था अपितु अपने कर्मचारियों से भी तत्परता की अपेक्षा रखता था।

अशोक के अभिलेखों में परिषा शब्द का उल्लेख हुआ है। इसे अर्थशास्त्र में उल्लिखित मन्त्रिपरिषद् से समीकृत किया जा सकता है। तीसरे तथा छठे शिलालेखों से मन्त्रिपरिषद् के कार्य पर प्रकाश पड़ता है। तीसरे लेख से ज्ञात होता है कि परिषद के आदेश विधिवत लिखे जाते थे जिन्हें स्थानीय अधिकारी जनता तक पहुँचाते थे। छठे शिलालेख से पता चतला है कि सम्राट के मौलिक आदेशों तथा विभागाध्यक्षों द्वारा आवश्यक विषयों पर लिए गये निर्णयों पर मन्त्रिपरिषद में कोई विवाद या पुनर्विचार का प्रस्ताव होने पर उसकी सूचना अविलम्ब सम्राट तक भेजी जाती थी। इससे स्पष्ट होता है कि मन्त्रिपरिषद् मात्र सलाहकारी संस्था ही नहीं थी अपितु उसे। वास्तविक और विस्तृत अधिकार प्राप्त थे।[41] दिव्यावदान से भी ज्ञात होता है कि मन्त्रिपरिषद के विरोध के कारण अशोक को कुकुंटाराम नामक बौद्ध विहार के लिए राज्यकोश के धन का अपव्यय रोकना पडा था।[42]

u;wu infèkdkfj;ksa dh fu;fä vkj ijku inkfèkdkfj;ksa dk vfrfjä dk;Hkkj &

अशोक के अभिलेखों में उसके किसी मन्त्री का नाम नहीं मिलता। दिव्यावदान से अशोक के अग्रामात्य (प्रधानमन्त्री) का नाम राधागुप्त ज्ञात होता है। पुरोहित का उल्लेख उसके अभिलेखों में अप्राप्य है। अभिलेखों सें उसके साम्राज्य के पाँच प्रान्तों के नाम उत्तरापथ, अवन्तिरट्ठ, कलिंग, दक्षिणापथ और प्रासी (प्राच्य) ज्ञात होते हैं जिनकी राजधानियाँ क्रमशः तक्षशिला, उज्जयिनी, तोसलि, सुवर्णगिरि और पाटलिपुत्र उल्लिखित हैं। इनमें राजकुल से सम्बन्धित व्यक्तियों को ही प्रान्तपति नियुक्त किया जाता था, जिसे 'कुमार या आर्यपुत्र कहते थे। दिव्यावदान से ज्ञात होता है कि अशोक का पुत्र कुणाल तक्षशिला का राज्यपाल था। स्वयं अशोक बिंदुसार के काल में उज्जयिनी का राज्यपाल रह चुका था। प्रान्तों में अन्य योग्य व्यक्तियों को भी राज्यपाल बनाया जाता था। रूद्रदामन के गिरनार लेख से विदित होता है कि यवन जातीय तुषास्फ काठियावाड़ प्रान्त में अशोक का राज्यपाल था।

अपने पाँचवे शिलालेख में अशोक कहता है कि सर्वप्रथम उसी ने धर्ममहामात्र नाम के नये पदाधिकारियों की नियुक्ति की थी। इनकी नियुक्ति उसने अपने अभिषेक के तेरहवें वर्ष की थी। इनका कार्य निर्दोष व्यक्तियों को दण्ड से मुक्त करवाना, वृद्धों तथा ऐसे व्यक्तियों के दण्ड को कम करवाना जिनके बहुत से आश्रित हों, दानों का उचित वितरण करवाना तथा विभिन्न सम्प्रदायों मध्य सामंजस्य स्थापित करवाना था।

कलिंग युद्ध के पश्चात अशोक ने युद्ध विजय के स्थान पर धम्मविजय का आदर्श अपना लिया था। धम्मविजय की नीति की सफलता के लिए अशोक ने धर्ममहामात्र के अतिरित स्त्रयध्यक्ष महामात्र, अन्तमहामात्र तथा ब्रजभूमिक नामक नये राजपदाधिकारियों की नियुक्ति की थी। संभवतः स्त्रियों के बीच धर्म प्रचार के लिए स्त्री–अध्यक्ष (स्व्यध्यक्ष) महामात्र नियुक्त किए गये थे। कदाचित महिलाओं के नैतिक आचरण की देख–रेख का दायित्व भी इन पर था। 'ब्रज गोचर भूमि को कहते हैं। इनमें पशुपालक समुदाय बड़ी संख्या में निवास करते थे। जिस प्रकार नगरों तथा अन्य बस्तियों में धर्ममहामात्रों और स्त्री–अध्यक्ष महामात्रों की नियुक्ति की गई थी, वैसे ही ब्रज भूमियों के निवासियों में धर्म प्रचार के लिए ब्रजभूमिक नामक राजकर्मचारी नियत किए गये थे।[43]

अशोक के तृतीय शिलालेख में युक्त, राजुक और प्रादेशिक नामक तीन पदाधिकारियों के नाम मिलते हैं। अर्थशास्त्र में भी युक्त नामक अधिकारी का उल्लेख है। प्रादेशिक को अर्थशास्त्र के प्रदेष्टा नामक अधिकारी से समीकृत किया जाता है। ऐसा प्रतीत होता है। कि ये तीनों अधिकारी पहले राजस्व सम्बन्धी उत्तरदायित्व संभालते थे और अशोक ने इन्हें न्याय तथा धर्म प्रचार का अतिरिक्त दायित्व सौंपा। तीसरे शिलालेख में अशोक कहता है कि भविष्य में राज्य के पदाधिकारी युक्त राजुक एवं प्रादेशिक अपने नियत कार्य के अतिरिक्त प्रति पाँचवे वर्ष अपने क्षेत्र में दौरा (अनुसंयान) करें। इसमें वे प्रशासनिक कार्यों के साथ–साथ धर्म प्रचार भी करें ताकि लोगों का पारलौकिक जीवन सुखमय हो सके।

U;k; rFkk n.M foèkku e: lèkkj & अशोक के अभिलेखों से विभिन्न न्यायिक अधिकारियों की जानकारी मिलती है। अभिलेखों में नगर–व्यावहारिक नामक

पदाधिकारियों का उल्लेख मिलता है। धौली और जौगड़ के पृथक शिला–प्रज्ञापनों में इन्हें महामात्र कहा गया है। इनका कार्य नगर के शासन संचालन करे साथ–साथ न्याय करना भी था।

अभिलेखों में उल्लिखित राजुक नामक पदाधिकारी का पद बहुत महत्वपूर्ण था। राजुक कई लाख लोगों पर नियुक्त किए गये थे। स्तम्भ लेख में अशोक कहता है– ''जिस प्रकार माता–पिता योग्य धात्री के हाथों में बच्चे को सौंप कर आश्वस्त हो जाते हैं उसी प्रकार मैंने ग्रामीण जनता के सुख के लिए राजुको की नियुक्ति की है। राजुक पहले केवल राजस्व विभाग का ही कार्य करते थे किन्तु बाद में उन्हें न्यायिक अधिकार भी दे दिये गये। राजुकों के कार्य प्रायः वे ही हैं जो नगर–व्यावहारिकों के हैं। अन्तर केवल इतना है कि नगर–व्यावहारिकों का कार्य क्षेत्र नगर था जबकि राजुकों का ग्राम (जनपद क्षेत्र)। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्येक प्रान्त में न्याय का कार्य तीन पदाधिकारियों प्रादेशिक, नगर–व्यावहारिक और राजुक (रज्जुक) के पास था। इससे भिन्न–भिन्न क्षेत्रों में समान अपराध पर निर्णय सम्बन्धी भेदभाव रहने की संभावना रहती थी। अतः इस दोष को दूर करने के लिए अशोक ने राजुको को न्याय प्रशासन के क्षेत्र में सर्वेसर्वा बना दिया और अन्य दोनों अधिकारियों को न्याय कार्य से मुक्त कर दिया। चतुर्थ स्तम्भ लेख अशोक कहता है कि– ''मैंने राजुको को न्यायिक अनुसंधान और दण्ड में स्वतंत्र कर दिया है, जिससे वे निर्भय होकर विश्वास के साथ अपना कार्य कर सके और जनपद के लोगों का हित करें।'' इससे स्पस्ट है कि अशोक ने न्याय–प्रशासन में दण्ड–समता और व्यवहार समता को स्थापित किया।

अशोक ने दण्ड विधान को उदार बनाने का भी प्रयास किया। यद्यपि उसने मृत्युदण्ड समाप्त नहीं किया तथापि मृत्युदण्ड पाए हुए अपराधियों को तीन दिनों की मोहलत (छूट) दी जाती थी ताकि उनके सम्बन्धी उनके मामले पर पुनर्विचार करवा सकें और यदि पुनर्विचार के बाद में भी सजा में कमी न हो तब वे उसके पारलौकिक कल्याण के लिए दान, प्रार्थना, उपवास आदि कर सके।

किसी निरपराध को दण्ड न मिले, इसके लिए अशोक ने नगर–क्षेत्रों में न्याय कार्य करने वाले नगर–व्यवहारिकों को आदेश दिया कि वे बिना उचित कारण के

किसी को कैद अथवा शारीरिक यातना ना दें। वह उन्हे ईष्या, क्रोध, निष्ठुरता, अविवेक, आलस्य आदि दुर्गुणों से मुक्त रहते हुए निष्पक्ष मार्ग का अनुकरण करने का उपदेश देता है। महामात्रों को भी उसने इसी उद्देश्य से पाँच–पाँच वर्ष के अन्तर से अनुसंयान (दौरे) पर जाते रहने की आज्ञा दी थी।[44]

lkekT;oknh uhfr e ifjorlu & तेरहवे शिलालेख से प्रकट होता है कि कलिंग युद्ध के हिंसात्मक परिणामों को देखकर अशोक को भारी पश्चाताप हुआ और उसके हृदय में दया व करूणा की भावना उत्पन्न हुई। परिणामतः उसने युद्ध विजय के स्थान पर धर्म विजय को अपनाया। चतुर्थ शिलालेख से प्रकट होता है कि उसके राज्य में भेरीकृघोष बन्द हो गया था और चतुर्दिक धर्म–घोष हो रहा था।

उसकी धम्म नीति ने उसकी परराष्ट्र नीति को भी प्रभावित किया तथा शान्ति और सह–अस्तित्व के सिद्धान्तों के आधार पर सम्बन्ध स्थापित किये गये।

vçglk ijd lekkj & बौद्ध धर्म के प्रति आस्था के कारण अशोक ने राज्य में कुछ अहिंसापरक सुधार भी किए। प्रथम शिलालेख में वह कहता है कि राज्य में कोई जीव न मारा जाय तथा कोई समाज न किया जाए। समाज नामक उत्सव में पशुओं पर अत्याचार होते थे, इसलिए अशोक ने समाज पर प्रतिबन्ध लगा दिया। पाँचवे स्तम्भ लेख में अशोक ने अनेक पशु पक्षियों के नाम दिए हैं जिनका वध अथवा कायाक्लेश दण्डनीय था। प्रथम शिलालेख में वह कहता है कि उसकी पाकशाला पहले बहुत से जीवों की हत्या होती थी। उसने निर्देश दिया कि पाकशाला में केवल दो मोर और एक हिरन मारे जाए और कुछ समय बाद इन्हें भी न मारा जाए। इससे स्पष्ट है कि अशोक ने पशुहिंसा को नियंत्रित और मर्यादित करने पर ध्यान दिया। पशु कल्याण के लिए उसने कई पशु चिकित्सालय भी खोले थे।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि अशोक ने चन्द्रगुप्त मौर्य व कौटिल्य द्वारा स्थापित शासन–व्यवस्था को अधिक न्यायोचित, नैतिक और लोककल्याणकारी बनाने हेतु सक्रिय प्रयास किये।

xqIrdkyhu 'kkIu&0;oLFkk

गुप्तवंशीय शासकों ने एक विशाल साम्राज्य का निर्माण किया। अपने उत्कर्ष काल में यह साम्राज्य उत्तर में हिमालय से दक्षिण में विन्ध्यपर्वत तक तथा पूर्व में बंगाल की खाड़ी से लेकर पश्चिम में सुराष्ट्र तक विस्तृत था। इस विशाल साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र थी। गुप्तकालीन प्रशासन व्यवस्था की जानकारी के मुख्य स्रोत उस काल के अभिलेख और सिक्के हैं। कालिदास, अमरसिंह, विशाखदत्त आदि की रचनाएँ पुराण, स्मृतियाँ तथा फाह्यान का यात्रा–वृतांत भी गुप्तकालीन प्रशासनिक पद्धति को जानने में सहायता प्रदान करते हैं।

dsUæh; iz'kkIu &

lezkV & गुप्तकालीन शासनदृव्यवस्था राजतन्त्रात्मक थी। राजा ही प्रशासन का प्रमुख केन्द्र था। उसे देवता के समान समझा जाने लगा था। गुप्त सम्राटों की तुलना अभिलेखों में बार–बार यम, वरूण, इन्द्र, कुबेर आदि से की गई है। जनता के पालन और रक्षण के प्रसंग में उन्हें विष्णु के समान कहा गया है। इस काल के राजाओं ने 'महाराजाधिराज', 'परमभट्टारक, परमेश्वर', 'परम भागवत', 'परमदैवत', 'एकराट जैसी विशाल उपाधियाँ धारण की थीं। सम्राट राज्य का सर्वोच्च अधिकारी, प्रधान न्यायाधीश और सेना का सर्वोच्च सेनापति होता था। प्रशासन के सभी उच्च पदाधिकारियों की नियुक्ति उसी के द्वारा होती थी और वे सभी उसी के प्रति उत्तरदायी होते थे। इस प्रकार सिद्धांत में उसकी स्थिति निरंकुश शासक जैसी थी। परन्तु व्यवहार में वह उदार और जन हितकारी होता था। गुप्तयुग में रानियों का भी शासन में महत्व ज्ञात होता है। चन्द्रगुप्त (प्रथम) तथा स्कन्दगुप्त ने अपने कुछ सिक्कों पर अपनी रानियों का अंकन किया है। ऐसा माना जाता है कि कुमार देवी ने अपने पति चन्द्रगुप्त (प्रथम) चन्द्रगुप्त (द्वितीय), कुमारगुप्त (प्रथम) तथा स्कन्दगुप्त ने अपने कुछ सिक्कों पर अपनी रानियों का अंकन किया है। ऐसा माना जाता है कि कुमार देवी ने अपने पति चन्द्रगुप्त (प्रथम) के साथ मिलकर शासन चलाया था। चन्द्रगुप्त (द्वितीय) की पुत्री प्रभावती गुप्ता, जो वाकाटक वंश की रानी थी, ने अपने पुत्र दिवाकर सेन की संरक्षिका के रूप में शासन किया था।

गुप्तयुग में सामन्तवाद का उदय हो चुका था। इसके लिए समुद्रगुप्त के अधीनस्थ राजाओं के प्रति अपनायी गयी नीति ही उत्तरदायी थी। उसने जीते गये अधिकांश राज्यों को अपने साम्राज्य में सम्मिलित नही किया तथा उनके राजाओं को स्वतन्त्र रूप से अपने–अपने क्षेत्रों में शासन करने का अधिकार प्रदान कर दिया अधीन राजाओं के अतिरिक्त सम्राट के अधीन अनेक छोटे–छोटे सामन्त हुआ करते थे जो अपने–अपने क्षेत्रों में स्वतन्त्र रूप से शासन करते थे तथा नाममात्र के लिये सम्राट् की अधीनता स्वीकार करते थे। ये सामन्त तथा अधीन शासक महाराज' की उपाधि ग्रहण करते थे। उन्हें सेना रखने तथा अपने अधीन जनता से कर वसूल करने का अधिकार प्राप्त था। पूर्वी मालवा में सनकानीक, बुन्देलखण्ड में परिव्राजक एवं उच्चकल्प वंशों के शासक गुप्तों के सामन्त थे। चन्द्रगुप्त द्वितीय कालीन उदयगिरि के एक गुहालेख में सनकानीक महाराज का उल्लेख हुआ है। सामन्त शासक अपने लेखों में अपने को पादानुध्यात कहते थे। वे विभिन्न अवसरों पर सम्राट की राजसभा में उपस्थित होते तथा भेंट, उपहारादि से उसे सन्तुष्ट रखते थे। कुछ सामन्त अत्यधिक शक्तिशाली होते थे। वे अपने अधीन कई छोटे–छोटे सामन्त रखते थे। इनमें परिब्राजक महाराज हस्तिन का उल्लेख किया जा सकता है। यद्यपि गुप्त लेखों में हमें सामन्तों तथा उनकी विभिन्न श्रेणियों का कोई विशेष उल्लेख नहीं मिलता है तथापि यह स्पष्ट है कि अब प्रशासन में मौर्यकालीन केन्द्रीय नियंत्रण समाप्त हो गया था।[45]

अमात्य तथा मन्त्री–सम्राट अपने शासन–कार्य में अमात्यों, मन्त्रियों एवं अधिकारियों से सहायता प्राप्त करता था। अमात्य से तात्पर्य प्रशासनिक अधिकारियों से था। उन्हीं में से योग्यता के आधार पर मंत्री नियुक्त किये जाते थे। प्रयाग प्रशस्ति में 'राजसभा का उल्लेख मिलता है जिसके सदस्य सभेय कहे जाते थे।'[46] सामान्यतः राजा का बड़ा पुत्र उत्तराधिकारी चुना जाता था, परन्तु कभी–कभी दूसरे योग्य राजकुमार को भी इस पद पर चुन लिया जाता था, यदि उनमें असाधारण योग्यता होती थी। समुद्रगुप्त का चुनाव इसी प्रकार का रहा होगा।[47] सम्राट के छोटे पुत्रों को प्रान्तीय शासकों के रूप में नियुक्त करने की प्रथा थी, जैसे कुमारगुप्त प्रथम के छोटे भाई गोविन्दगुप्त को मालवा का राज्यपाल नियुक्त किया गया था।

युवराज अपने पिता के जीवनकाल में प्रशासनिक कार्यों में उसकी सहायता करता था। गुप्त युग में युवराज की अधीनता में एक पृथक सैनिक विभाग हुआ करता था। सम्राट के वृद्ध होने पर प्रशासन का पूरा उत्तरदायित्व युवराज के ऊपर ही आता था। इस प्रकार का उदाहरण कुमारगुप्त प्रथम के समय में मिलता है जबकि उसके पुत्र स्कन्दगुप्त ने अपने पिता के काल में सैनिक अभियानों में प्रमुख रूप से भाग लिया था।

गुप्त शासन में विभिन्न विभाग मन्त्रियों के अधीन होते थे। गुप्तकालीन लेखों तथा स्मृतियों में मन्त्रियों तथा सचिवों का उल्लेख मिलता है। किन्तु उनकी संख्या अथवा उनके विभागों के विषय में कोई सूचना नहीं मिलती। ऐसा लगता है कि विभागीय अध्यक्षों और मन्त्रियों में कोई खास अन्तर नही था। सैनिक योग्यता मन्त्रियों के लिये अनिवार्य अर्हता थी। समुद्रगुप्त एवं चन्द्रगुप्त द्वितीय के युद्ध सचिव हरिषेण एवं वीरसेन उच्चकोटि के सेनानायक भी थे। वीरसेन के उदयगिरि गुहालेख से पता चलता है कि वह आनुवंशिक रूप से अपने पद का उपभोग कर रहा था। कुमारगुप्त प्रथम का मन्त्री पृथ्वीषेण, शिखरस्वामी का पुत्र था जो उसको पिता चन्द्रगुप्त द्वितीय का मन्त्री रह चुका था। वह पहले मन्त्री था किन्तु बाद में सेनापति (महाबलाधिकृत) के पद पर पहुँच गया था।

dUæh; vfèkdkjh & गुप्तकालीन अभिलेखों में निम्नलिखित पदाधिकारियों के नाम मिलते हैं:

çfrgkj ,oa egkçfrgkj & ये राजदरबार के प्रमुख पदाधिकारी थे जो प्रशासन में भाग नहीं लेते थे। जो लोग सम्राट से मिलना चाहते थे, उन्हें उचित अनुमति–पत्र देना इनका प्रमुख कार्य था। प्रतिहार अन्तःपुर का रक्षक एवं महाप्रतिहार राजमहल के रक्षकों का प्रधान होता था।

egkklkfuèkfoxfgd & यह सेना का सर्वोच्च अधिकारी होता था।

egkll fUèkfoxfgd & यह एक महत्वपूर्ण पदाधिकारी था जो युद्ध एवं शान्ति का मन्त्री होता था।

n.Mkf'kd & यह पुलिस विभाग का प्रधान अधिकारी होता था जो आज कल के पुलिस अधीक्षक के समान था।

fou;fLFkfrLFkkid & यह धर्म–सम्बन्धी मामलों का प्रधान अधिकारी था जो सार्वजनिक मन्दिरों के प्रबन्ध की देख–रेख करता था एवं लोगों के नैतिक आचरण पर दृष्टि रखता था।

dqekjkekR; & अल्तेकर महोदय का मत है कि कुमारामात्य उच्च–पदाधिकारी का विशिष्ट वर्ग था जो आधुनिक आई.ए.एस. वर्ग के पदाधिकारियों की भॉति था। इस वर्ग के पदाधिकारी अपनी योग्यता के आधार पर उच्च से उच्च पद पर नियुक्त किये जा सकते थे।[48] रोमिला थापर के अनुसार "कुमारामात्य" प्रान्तीय पदाधिकारी होते थे जो स्थानीय प्रशासन तथा केन्द्र के बीच कडी का काम करते थे। कुमारामात्य का पृथक कार्यालय होता था जिसे कुमारामात्याधिकरण कहा जाता था। हाल ही में प्रयाग के समीप एक टीले से प्राप्त की गई मुद्रा में मूलकुमारामात्याधिकरणस्य लेख उत्कीर्ण मिलता हैं।[49] इससे ऐसा लगता है कि गुप्त प्रशासन में एक मुख्य कुमारामात्य भी होता था। उसके नीचे कई कुमारामात्य होते रहे होगे। गुप्त काल में राजकर्मचारियों को नकद वेतन दिया जाता था।

çkUrh; 'kklu & प्रशासन की सुविधा के लिए विशाल गुप्त साम्राज्य अनेक प्रान्तों में विभाजित किया गया था। प्रान्त को देश, अवनी अथवा भुक्ति कहा जाता था। गुप्त प्रशासन के प्रमुख प्रान्त सुराष्ट्र, पश्चिमी मालवा (अवन्ति), पूर्वी मालवा (एरण), तीरभुक्ति, पुण्ड्रवर्धन, मगध आदि थे। भुक्ति के शासक को 'उपरिक कहा जाता था जिसकी नियुक्ति सम्राट द्वारा की जाती थी तथा वह सम्राट को प्रति ही उत्तरदायी होता था सीमान्त प्रदेशो को शासक "गोप्ता" कहलाते थे[50] जिनकी नियुक्ति सम्राट पर्याप्त सोच–विचार के बाद करता था। उपरिक के पद पर प्रायः राजकुमार अथवा राजकुल से सम्बन्धित व्यक्तियों की ही नियुक्ति की जाती थी परन्तु कभी कभी अन्य व्यक्तियों को भी यह पद प्रदान कर दिया जाता था। चन्द्रगुप्त द्वितीय का छोटा पुत्र गोविन्दगुप्त तीरभुक्ति(आधुनिक दरभंगा) का तथा कुमारगुप्त प्रथम का पुत्र घटोत्कचगुप्त पूर्वी मालवा का राज्यपाल था। कुमारगुप्त के समय में उत्तरी बंगाल में पुण्ड्रवर्द्धन नामक प्रान्त गुप्त साम्राज्य के अन्तर्गत था जहाँ का शासक चिरादत्त था।

स्कन्दगुप्त के समय में पर्णदत्त उसके साम्राज्य के पश्चिमी प्रदेश सुराष्ट्र का राज्यपाल था। इनकी नियुक्ति प्रायः पाँच वर्षों के लिये की जाती थी।

ftyk rFkk uxj ç'kklu & भुक्ति का विभाजन अनेक जिलो में हुआ था। जिलों को "विषय" कहा गया है जिसका प्रधान अधिकारी विषयपति होता था। विषयपति को "कुमारामात्य' भी कहा गया है। विषयपति की नियुक्ति प्रायः संबन्धित प्रान्त के उपरिक (राज्यपाल) द्वारा ही की जाती थी, परंतु कभी–कभी स्वयं सम्राट ही उनकी नियुक्त करता था। विषयपति का अपना कार्यालय होता था। कार्यालय के अभिलेखों को सुरक्षित रखने वाले अधिकारी को पुस्तपाल कहा जाता था। विषयपति एक समिति की सहायता से जिले का शासन चलाता था जिससे निम्नलिखित सदस्य होते थे–

(1) नगर श्रेष्टि (नगर के महाजनों का प्रमुख), (2) सार्थवाह (व्यवसायियों का प्रधान), (3) प्रथम कुलिक (प्रधान शिल्पी) तथा (4) प्रथम कायस्थ (मुख्य लेखक)।[51]

फरीदपुर ताम्रपत्र संख्या 3 में विषयसमिति के सदस्यों की संख्या बीस मिलती है। विषय–समिति की सदस्य 'विषय–महत्तर' कहे जाते थे।[52]

प्रमुख नगरों का प्रबन्ध नगरपालिकायें चलाती थी। नगर का प्रधान अधिकारी पुरपाल कहा जाता था। वह कुमारामात्य की श्रेणी का अधिकारी होता था। नगर प्रशासन में पुरपाल की सहायता करने के लिये भी संभवतः एक समिति होती थी। जूनागढ़ लेख से पता चलता है कि गिरनार नगर का पुरपाल चक्रपालित था जो सुराष्ट्र के राज्यपाल पर्णदत्त का पुत्र था। उसी ने वहाँ सुदर्शन झील के बाँध का पुननिर्माण करवाया था।

xke&'kklu & ग्राम शासन की सबसे छोटी इकाई होता था जिसका प्रशासन ग्रामसभा द्वारा चलाया जाता था। ग्रामसभा को मध्य भारत में 'पञ्चमण्डली'[53] तथा बिहार में ग्राम जनपद[54] कहा जाता था। ग्रामसभा सरकार के सभी कार्यों को करती थी। वह ग्राम के सुरक्षा की व्यवस्था करती, निर्माण–कार्य करती तथा राजस्व एकत्रित कर राजकीय कोष में जमा करती थी। दामोदरपुर से प्राप्त तीसरे ताम्रपत्र

में ग्रामसभा के कुछ पदाधिकारियों के नाम इस प्रकार मिलते है– महत्तर[55], अष्टकुलाधिकारी[56] ग्रामिक[57], कुटुम्बिन।

U;k;&ç'kklu & गुप्तकालीन लेखों में न्याय विभाग का उल्लेख नहीं मिलता। किन्तु समकालीन स्मृतियों–नारद तथा वृहस्पति–से पता चलता है कि गुप्त युग में न्याय–व्यवस्था अत्यधिक विकसित थी। गुप्त युग में प्रथम बार दीवानी तथा फौजदारी अपराधों से सम्बन्धित कानूनों की व्याख्या प्रस्तुत की गयी। उत्तराधिकार सम्बन्धी स्पष्ट एवं विशद कानूनों का निर्माण किया गया। सम्राट देश का सर्वोच्च न्यायाधीश होता था। वह सभी प्रकार के मामलों के सुनवाई की अन्तिम अदालत था। सम्राट के अतिरित एक मुख्य न्यायाधीश तथा अन्य अनेक न्यायाधीश होते थे जो साम्राज्य के विभिन्न भागों में स्थित अनेक न्यायालयों में न्याय–सम्बन्धी कायों को देखते थे। व्यापारियों तथा व्यवसायियों की श्रेणियों के अपने अलग न्यायालय होते थे जो अपने सदस्यों के विवादों का निपटारा करते थे। स्मृति ग्रन्थों में पुग' तथा कुल' नामक संस्थाओं का भी उल्लेख था मिलता है जो अपने सदस्यों के विवादों का फैसला करती थी।[58] पुग नगर में रहने वाली विभिन्न जातियों की समिति होती थी जबकि कुल समान परिवार के सदस्यों की समिति थी। इन सभी को राज्य की ओर से मान्यता मिली हुयी थी। ग्रामों में न्याय का कार्य ग्राम–पंचायते किया करती थीं। पेशेवर वकीलों का अस्तित्व नहीं था। न्यायालयों में प्रमाण भी लिया जाता था। जहाँ कोई प्रमाण नहीं मिलता था वहाँ अग्नि, जल, विष, तुला आदि के द्वारा दिव्य परीक्षायें ली जाती थीं।[59] गुप्तकालीन अभिलेखों में न्यायाधीशों को महादण्डनायक, दण्डनायक, सर्वदण्डनायक आदि कहा गया है। नालन्दा तथा वैशाली से कुछ न्यायालयों की मुद्रायें भी मिलती हैं जिनके ऊपर न्यायाधिकरण, धर्माधिकरण तथा धर्मशासनाधिकरण अंकित है।

फाहयान के विवरण से पता चलता है कि दण्डविधान अत्यन्त कोमल था। मृत्युदण्ड नहीं दिया जाता था और न ही शारीरिक यातनायें मिलती थी। सम्राट स्कन्दगुप्त के जूनागढ़ लेख से भी पता चलता है कि उस काल में दण्डों के द्वारा अत्यधिक पीड़ा नहीं पहुँचायी जाती थी। (दण्ड्यों न वा यो भूशपीड़ितः स्यात) मृच्छकटिक से ज्ञात होता है। कि चारूदत्त को हत्यारा सिद्ध हो जाने पर भी

मृत्यु–दण्ड नहीं दिया गया था। अपराधों में सामान्यतः आर्थिक जुर्माने लिये जाते थे। बार–बार राजद्रोह का अपराध करने वाले व्यक्ति का दाहिना हाथ काट लिया जाता था। अन्य दण्ड मौर्ययुग की अपेक्षा मृदु थे। कुछ मामलों, जैसे पशुओं को नष्ट करना आदि में जहाँ कौटिल्य मृत्युदण्ड का विधान करता है वही गुप्तकालीन स्मृतियाँ मात्र प्रताड़ित करने का विधान प्रस्तुत करती हैं। इस प्रकार गुप्त सम्राटो ने प्राचीन भारतीय दण्ड विधान को उदार एवं मृदु बनाने का यथेष्ट प्रयास किया था। जब हम इस देश में जासूसी तथा अपराधों के लिए कठोर दण्डों की प्राचीन परम्परा का स्मरण करते है, तो हमें यह मानने के लिये बाध्य होना पड़ता है कि 'गुप्तों के प्रशासन ने प्राचीन भारतीय दण्ड विधान में मानवीय सुधार के एक नये युग का सूत्रपात किया था।[60]

lfud lxBu & गुप्त शासकों की सेना विशाल एवं सुसंगठित होती थी। सेना का सर्वाच्च अधिकारी महाबलाधिकृत कहा जाता था। हाथियों की सेना के प्रधान को 'महापीलुपति तथा घुड़सवारों की सेना के प्रधान को भटाश्वपति' कहते थे। सेना में सामानों की व्यवस्था रखने वाले प्रधान अधिकारी को रणभाण्डागरिक कहते थे। गुप्तवंशी सम्राट स्वयं कुशल योद्धा होते थे तथा व्यक्तिगत रूप से युद्धो में भाग लेते एवं सेना का संचालन करते थे। मन्त्रियों के लिए भी सैनिक दृष्टि से योग्य होना आवश्यक था। प्रयाग प्रशस्ति में उस समय के कुछ प्रमुख अस्त्र–शस्त्रों के नाम इस प्रकार मिलते हैं– परशु, शर, शंकु तोमर, भिन्दिपाल, नाराच आदि।

Hkfe ,o jktLo & गुप्त युग में सिद्धान्ततः भूमि पर सम्राट का स्वामित्व माना जाता था। राजकीय भूमि के अतिरित ऐसी भी भूमि थी जिन पर कृषकों का निजी स्वामित्व होता था। मन्दिरों तथा ब्राह्मणों को जो भूमि दान में दी जाती थी उसे 'अग्रहार कहा जाता था। इस प्रकार की भूमि सभी करों से मुक्त होती थी तथा इनके ऊपर धारकों का पूर्ण स्वामित्व होता था। ऐसे भूमिदानों का उद्देश्य एकमात्र शैक्षणिक एवं धार्मिक था। यद्यपि आर. एस. शर्मा इन्हें सामन्तवाद के उदय का एक महत्वपूर्ण कारण मानते हैं तथापि हमारे पास एक भी उदाहरण ऐसा नहीं है जिससे यह सिद्ध हो सके कि कोई दानग्राही ब्राह्मण जागीरदार अथवा सामन्त बन गया हो। बी. एन. एस. यादव के अनुसार ब्राह्मणों को दी गया भूमि, जो मुश्किल से एक

गाँव से अधिक रही होगी, राजनीतिक सामन्तवाद का स्थायी आधार नहीं हो सकती थी, विशेषकर ऐसे समय में जबकि दानग्राही ग्रहीता के आचरण से अप्रसन्न होकर समाप्त कर सकता था तथा उन्हें दूसरे योग्य व्यक्ति को दे सकता था। गुप्त राजाओं ने भूमि के विकास की ओर विशेष ध्यान दिया था। भूमिकर संग्रह करने के लिए ध्रुवाधिकरण तथा भूमि–आलेखों को सुरक्षित करने के लिए 'महाक्षपटलिक' और 'करणिक' नामर पदाधिकारी थे। 'न्यायाधिकरण' नामक पदाधिकारी भूमि–सम्बन्धी विवादों का निपटारा करते थे। सिंचाई की उत्तम व्यवस्था थी। गुप्त शासकों ने कुएँ तालाब, नहरों आदि का निर्माण करवाया था। सम्राट स्कन्दगुप्त के जूनागढ़ के राज्यपाल पर्णदत्त के पुत्र चक्रपालित ने गिरनार में सुदर्शन झील के बाँध का पुननिर्माण करवाया था। जो लोग राजकीय भूमि पर कृषि करते थे उन्हें अपनी उपज का एक भाग राजा को कर के रूप में देना पड़ता था जो सामान्यतः यह छठा भाग होता था। गुप्त अभिलेखों में भूमिकर की उद्रग" तथा भागकर कहा गया है। स्मृति ग्रन्थों में इसे राजा की वृत्ति कहा गया है। नारद के अनुसार राजा प्रजा रक्षण के बदले में उपज का षष्ठांश राजस्व के रूप में प्राप्त करने का अधिकारी होता है। कालिदास लिखते हैं कि तपस्वियों के तप की रक्षा तथा सम्पत्ति की चारों से रक्षा करने के बदले में राजा चारों आश्रमों तथा वणों से उनके धन के अनुसार छठां भाग प्राप्त करता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि गुप्तकाल में राजस्व उपज का छठां भाग ही लिया जाता था। किसी–किसी स्थान पर भूतोपातप्रत्याय' नामक कर का उल्लेख मिलता है। अल्तेकर के अनुसार यह राज्य में या उत्पन्न होने वाली वस्तुओं (भूत) तथा भीतर आयात की जाने वाली वस्तुओं (उपात) के ऊपर लगाया जाने वाला कर था। समकालीन लेखों में विष्टि' (बेगार) का भी उल्लेख मिलता है। संभवतः इस काल में यह भी एक प्रकार का कर था। किन्तु गुप्त राजाओं के किसी भी लेख में इसका उल्लेख नहीं मिलता है। वात्स्यायान के कामसूत्र से पता चलता है कि गाँवों में किसान स्त्रियों को मुखिया के घर के विविध प्रकार के काम, जैसे– अनाज रखना, घर की सफाई, खेतों पर काम करना आदि करने के लिये बाध्य किया जाता था और इसके बदले में उन्हें मजदूरी नहीं था मिलती थी। कुछ विद्वान

इस विवरण के आधार पर गुप्तकाल में विष्टि के व्यापक रूप से प्रचलित होने का निष्कर्ष निकालते हैं।

इसके अतिरिक्त व्यापारिक वस्तुओं, चारागाहों, वनों, नमक आदि पर भी कर लगते थे था जिससे राज्य को प्रभूत आय होती थी। सीमा, बिक्री की वस्तुओं, आदि पर जो कर लगते थे उसे शुल्क कहा जाता था। स्कन्दगुप्त के बिहार लेख में शौल्किक नामक पदाधिकारी का उल्लेख मिलता है। वह सीमा शुल्क विभाग का अधीक्षक होता था। संभवतः उसे व्यापारियों और सौदागरों कम काल पर कर लगाने तथा वसूल करने का अधिकार था। राज्य की आय का एक अन्य महत्वपूर्ण स्रोत भूमिरत्न, खानों की खुदाई तथा नमक का उत्पादन था। इन सभी के ऊपर राज्य का एकाधिकार होता था। अपराधियों के ऊपर जो जुर्माने लगाए जाते थे। उनसे भी पर्याप्त धन राजकोष में जमा होता था। गुप्त युग की कर–व्यवस्था उदार सिद्धान्तों पर आधारित थी। इस काल की रचना कामन्दकीय नीतिसार में शासक को सलाह दी गयी है कि जिस प्रकार सूर्य अपनी किरणों से जल ग्रहण करता है, उसी प्रकार प्रजा से राजा थोडा–थोडा धन ग्रहण करे। राजा के आचरण की तुलना ग्वाले तथा माली से करते हुए कामन्दक लिखते है कि जिस प्रकार ग्वाला पहले गाय का पोषण करता है तथा फिर उसका दूध दुहता है तथा जिस प्रकार माली पहले पौधो को सींचता है। तथा फिर उनका चयन करता है, उसी प्रकार राजाक को पहले प्रजा का पोषण करना चाहिए और फिर बाद में उससे कर ग्रहण करना चाहिए।[61] अतः हम कह सकते हैं कि गुप्त सम्राटों ने इस आदर्श का अवश्यमेव पालन किया होगा।

इस प्रकार गुप्त प्रशासन के विभिन्न पहलुओं पर विचार करने के पश्चात् यह स्पष्ट हो जाता है कि गुप्त सम्राटों ने जिस विस्तृत प्रशासनिक व्यवस्था का निर्माण किया वह अन्यन्त उदार एवं सुसंगठित थी।

g"kkdkyhu 'kklu&0;oLFkk

'kklu&çcU/k & एक विजेता तथा साम्राज्य निर्माता होने को साथदृसाथ हर्ष एक कुशल प्रशासक भी था। उसकी शासन–व्यवस्था का ज्ञान हमें बाण के हर्षचरित तथा हुएनसांग के यात्रा–विवरण से प्राप्त होता है। यहां उल्लेखनीय है कि हर्ष ने किसी नवीन शासन–प्रणाली को जन्म नहीं दिया, अपितु उसने गुप्त शासन–प्रणाली को ही कुछ संशोधनों एवं परिवर्तनों के साथ अपना लिया था।

lezkV & हर्ष को समय में भी शासन–व्यवस्था का स्वरूप राजतन्त्रात्मक था। राजा अपनी दैवी उत्पति में विश्वास करता था। वह महाराधिराज, परमभट्टारक, चक्रवर्ती परमेश्वर जैसी महान् उपाधियाँ धारण करता था। हर्षचरित में हर्षवर्द्धन को 'सभी देवताओं का सम्मिलित अवतार कहा गया है वह प्रशासन का सर्वोच्च अधिकारी था। सम्राट कार्यपालिका का प्रधान अध्यक्ष, न्याय का प्रधान न्यायाधीश तथा सेना का सबसे बड़ा सेनापति हुआ करता था। किन्तु महान् उपाधियों से युक्त एवं शक्ति सम्पन्न होते हुए भी हर्ष निरंकुश नहीं था। उसका राजत्व सम्बन्धी आदर्श अत्यन्त

ऊँचा था। प्राचीन शास्त्रों के आदेशों का अनुकरण करते हुए उसने प्रजा रक्षण तथा पालन को अपना सर्वोच्च लक्ष्य बनाया। बांसखेड़ा तथा मधुबन के दानपत्रों में हर्ष अपनी प्रजावत्सल भावनाओं को इस प्रकार व्यक्त करता है– 'लक्ष्मी (धन) का फल दान देने तथा दूसरों के यश की रक्षा करने में है। संदेह नहीं कि हर्ष ने व्यवहारिक जीवन में इस आदर्श को मूर्त रूप दिया होगा। चन्द्रगुप्त तथा अशोक की भाँति हर्ष व्यक्तिगत रूप से शासन के विविध कार्यों में भाग लेता था। हुएनसांग हमें बताता है 'हर्ष का सम्पूर्ण दिन तीन भागों में विभक्त था। एक भाग में वह प्रशासनिक कार्य करता था तथा शेष दो भागों को धार्मिक कायों में व्यतीत करता था। वह अथक था और इन कायों के लिये दिन उसे अत्यन्त छोटा पडता था।[62]

lkeUr rFkk efU=ifj"kn & हर्ष को अधीनस्थ शासक महाराज अथवा महासामन्त कहे जाते थे। प्रशासन में सामन्तों का विशिष्ट स्थान था। हर्षचरित तथा कादम्बरी में विभिन्न प्रकार के सामन्तों का उल्लेख मिलता है। जसकृ सामन्त, महासामन्त, आप्त सामन्त, प्रधान सामन्त, शत्रु सामन्त तथा प्रति सामन्त। हर्षचरित के अनुसार

हर्ष ने महासामन्तों को अपना करद बना लिया था (करदीकृत महासामन्त)।[63] बांसखेड़ा तथा मधुबन के लेखों में महासामन्त स्कन्दगुप्त तथा महासामन्त महाराज ईश्वरगुप्त के नाम मिलते है। वे समय–समय पर उसकी राजसभा में उपस्थिति होते, विभिन्न समारोहों में भाग लेते तथा युद्धों के अवसर पर सम्राट को सैनिक सहायता देते थे। हर्ष काल तक आते–आते सामन्त शब्द का प्रयोग भूस्वामियों अधीन राजाओं तथा उच्च पदाधिकारियों के लिये होने लगा था। अमात्य तथा कुमारामात्य जैसे पद भी सामन्ती विरूद बन गये थे। ऐहोल लेख से पता चलता है कि हर्ष की सेना में बड़े–बड़े ऐश्वर्यशाली सामन्त सम्मिलित थे।[64] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि हर्षकालीन प्रशासन पहले से कहीं सामन्ती तथा विकेन्द्रित हो गया था।

सम्राट को सहायता देने के लिये एक मन्पिरिषद भी होती थी। मन्त्री को सचिव अथवा अमात्य कहा जाता था। हर्ष के समय में भण्डि उसका प्रधान सचिव था। उत्तराधिकार जैसे महत्वपूर्ण प्रश्नों पर भी मन्त्रिपरिषद् की राय आवश्यक समझी जाती थी। राज्यवर्द्धन की मृत्यु के बाद उत्तराधिकार के प्रश्न को तय करने के लिये भण्डि ने मन्त्रिपरिषद् की बैठक बुलाई थी। उसका विदेश सचिव अवन्ती था तथा सिंहनाद उसका प्रधान सेनापति था। विदेश सचिव को महासन्धिविग्रहिक कहा जाता था। कुन्तल, अश्वारोही सेना का सर्वोच्च अधिकारी तथा स्कन्दगुप्त गज सेना का प्रधान था। राजस्थानीय सम्भवतः वायसराय या गर्वनर होता था। हुएनसांग के विवरण से पता चलता है कि साधारणतया मन्त्रियों तथा केन्द्रीय कर्मचारियों को नकद वेतन नहीं मिलता था, बल्कि उन्हें भूमि–खण्ड दिये जाते थे, लेकिन सैनिक पदाधिकारियों को नगद वेतन मिलता था। वह लिखता है कि निजी खर्च चलाने के लिए प्रत्येक गर्वनर, मंत्री, मजिस्ट्रेट और अधिकारी को जमीन मिली हुई थी।[65] इस प्रकार हर्ष का प्रशासन कालान्तर में लोकप्रिय होने वाली सामन्तवादी प्रथा का पूर्वगामी था।

ç'kklfud foHkkx rFkk inkfèkdkjh & प्रशासन की सुविधा को लिए हर्ष का विशाल साम्राज्य कई प्रान्तों में विभाजित था। किन्तु हर्षकालीन प्रान्तों की संख्या अथवा उनके शासकों के विषय में हमें ज्ञात नहीं है। हर्षचरित में प्रान्तीय शासक के लिये लोकपाल शब्द आया है। प्रान्त को भुक्ति' कहा जाता था। प्रत्येक भुक्ति का

शासक राजस्थानीय, उपरिक अथवा राष्ट्रीय कहलाता था। मधुबन तथा बांसखेड़ा के लेखों में क्रमशः श्रावस्ती तथा अहिच्छत्र भुक्तियों का उल्लेख है जो साम्राज्य के उत्तरी तथा उत्तरी–पश्चिमी भागों में स्थित थीं। मधुबन तथा बांसखेडा के लेखों में क्रमशः कुंडधानी तथा अंगदीय विषयों के नाम हैं। भुक्ति का विभाजन जिलों में हुआ था। जिले की संज्ञा विषय थी जिसका प्रधान विषयपति होता था। विषय के अन्तर्गत कई पाठक होते थे जो आजकल की तहसीलों के बराबर रहे होंगे। शासन की सबसे छोटी ईकाई ग्राम थी। ग्राम शासन का प्रधान 'ग्रामक्षपटलिक' कहा जाता था। उसकी सहायता के लिये अनेक 'करणिक' होते थे। हर्षकालीन साहित्य तथा लेखों में कुछ अन्य पदाधिकारियों के नाम मिलते हैं, जैसे– महत्तर दौस्साधसाधनिक, प्रमातार भोगिक आदि। किन्तु इनके वास्तविक अभिज्ञान के विषय में निश्चित रूप से बता सकना कठिन है।

प्रशासन मृदु सिद्धान्तों पर आधारित था। सरकार की माँगे कम थी। परिवारों को अपनी रजिस्ट्री नहीं करानी पड़ती थी और न ही लोगों से बेगार लिये जाते थे। हुएनसांग लिखता है कि शासन का संचालन ईमानदारी से होता था तथा लोग परस्पर प्रेम एवं सदभावपूर्वक निवास करते थे।[66] परन्तु सड़को पर आवागमन पूर्णतया सुरक्षित नहीं था। हुएनसांग स्वयं कई बार चोर–डाकुओं के चंगुल में फंस चुका था। वह लिखता है कि एक बार जब वह गंगा नदी से यात्रा कर रहा था, समुद्री डाकुओं ने उसे घेर लिया। उन्होनें उसे देवी दुर्गा की बलि देने के लिए चुना। तभी भीषण तूफान आया जिससे उसकी जान बच गयी।

n.M foèkku & अपराधों के लिए कठोर दण्ड की व्यवस्था भी थी। राजद्रोहियों को आजीवन कारावास दिया जाता था। ऐसा पता चलता है कि बन्दियों के साथ निर्दयतापूर्ण व्यवहार किया जाता था। दण्डविधान गुप्त काल की अपेक्षा कठोर थे। सामाजिक नैतिकता एवं सदाचार के विरूद्ध किये गये अपराधों में नाक, कान, हाथ, पैर आदि काट लिये जाते थे। कभी–कभी अपराधियों को देश से बाहर भी निकाल दिया जाता था। अपराधी अथवा निर्दोष सिद्ध करने के लिए कभी–कभी अग्नि, जल, विष आदि के द्वारा दिव्य परीक्षायें भी ली जाती थीं। कुछ विशेष अवसरों पर बन्दियों को मुक्त किये जाने की भी प्रथा थी।[67] हुएनसांग के अनुसार लोग नैतिक दृष्टि से

उन्नत थे। वे पारलौकिक जीवन के दुखो से डरते थे और इस कारण उनके द्वारा पाप नहीं किये जाते थे।

देश में शान्ति और व्यवस्था बनाये रखने के निमित्त पुलिस विभाग की स्थापना हुई थी। पुलिस कर्मियों को चाट या 'भाट कहा गया है। दण्डपाशिक तथा दाण्डिक पुलिस विभाग के अधिकारी होते थे।[68]

jktLo & हर्ष का प्रशासन उदार तथा नरम था। साम्राज्य में बहुत कम कर लगाये गये थे। हर्षकालीन ताम्रपत्रों में केवल तीन करों का उल्लेख मिलता है– भाग, हिरण्य तथा बलि प्रथम अर्थात भाग भूमिकर था। यह राज्य की आय का प्रधान साधन था तथा कृषकों से उनकी उपज का छठाँ भाग लिया जाता था। हिरण्यकर नकद लिया जाता था जिसे सम्भवतः व्यापारी देते थे। बलिकर के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है। सम्भव है। यह एक प्रकार का धार्मिक कर रहा हो। व्यापारिक मार्गों, घाटों, बिक्री की वस्तुओं आदि पर भी कर लगते थे, जिससे राज्य को पर्याप्त धन प्राप्त होता था। राजकीय भूमि से जो आमदनी होती थी उसे चार प्रकार से खर्च किया जाता था। उसका एक भाग धार्मिक और सरकारी कार्यो में, दूसरा भाग राजकीय पदाधिकारियों के ऊपर, तीसरा भाग विद्वानों को पुरस्कार देने में तथा चौथा भाग विविध सम्प्रदायों को दान देने में खर्च किया जाता था। हुएनसांग हमें बताता है कि यदि किसी शहर या गाँव में कोई गड़बड़ी होती थी तो सम्राट तुरन्त ही वहाँ जाता था। वर्षा ऋतु को छोड़कर शेष तीनों ऋतुओं में हर्ष एक स्थान से दूसरे स्थान का दौरा किया करता था जहाँ लोग उससे अपने कष्टों के विषय में बताते थे। लेखों से इस प्रकार के दो स्थानों का पता चलता है जहाँ हर्ष अपनी यात्राओं के दौरान टिका हुआ था– 1 वर्धमानकोटि तथा 2 कपित्थिका। इन स्थानों से क्रमशः बांसखेड़ा तथा मधुबन के दानपत्र प्रसारित किये गये थे।

lsuk & हर्षवर्द्धन के पास एक विशाल और संगठित सेना थी। बाण के हर्षचरित तथा हुएनसांग के विवरण से इसकी पुष्टि होती है। हर्षचरित से पता चलता है कि दिग्विजय के लिये कुच करने के समय हर्ष के सैनिकों की संख्या इतनी बड़ी थी कि अपने सामने एकत्र विशाल सैन्य समूह को देखकर वह आश्चर्यचकित रह गया।[69] हुएनसांग के अनुसार उसकी सेना में 60 हजार हाथी तथा एक लाख घोड़े

थे। पैदल सैनिकों की संख्या भी काफी बड़ी रही होगी। स्पष्टतः यह सेना सामन्तों तथा अधीन राजाओं द्वारा एकत्रित की गयी थी। ऐहोल लेख से भी सूचित होता है कि हर्ष की सेना में अनेक वैभवशाली सामन्त थे। सेना के सामग्रियों को सुरक्षित रखने के लिये एक अलग विभाग होता था जिसे रणभाण्डागाराधिकरण कहते थे। बसाढ़ से प्राप्त मुद्रा में इसका उल्लेख मिलता है। इस विभाग का प्रधान रणभाण्डागारिक होता था। कभी–कभी सैनिकों के व्यवहार से जनता को महान् कष्ट उठाना पड़ता था। अभियानों के अवसर पर वे खड़ी फसलों को नष्ट कर देते तथा मार्ग में पड़ने वाले घरों एवं झोपड़ियों को जला देते थे। सम्राट भी इस कठिनाई की ओर बहुत कम ध्यान दिया करता था। चाट और 'भाट जैसे पुलिस कर्मचारियों के दुर्व्यवहार में भी ग्रामीण जनता प्रायः दुखी रहती थी।

इस प्रकार हम कह सकते है कि यद्यपि हर्ष ने गुप्तों की शासन–प्रणाली का अनुकरण किया तथापि उसमें वह गुप्तशासन के समान उदारता, सुरक्षा तथा लोकापकारिता स्थापित नहीं कर सका। उसका प्रशासन मौर्यों के समान सुसंगठित भी नहीं था। प्रशासन पर सामन्तों के बढ़ते प्रभाव के कारण विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्तियाँ प्रबल हो रही थीं।

pkyk lkezkT; dh 'kklu&0;oLFkk

'kklu&çcU/k& चोल संस्कृति का सर्वाधिक महत्वपूर्ण पक्ष उसकी शासन–व्यवस्था है। चोल सम्राटों ने एक विशिष्ट शासन व्यवस्था का निर्माण किया जिसमें प्रबल केन्द्रीय नियन्त्रण के साथ ही बहुत अधिक मात्रा में स्थानीय स्वायत्तता भी थी। चोल प्रशासन के अध्ययन के लिये हम मुख्यतः अभिलेखों पर निर्भर करना पड़ता है। साथ ही साथ इस काल के साहित्य तथा विदेशी यात्रियों के विवरण से भी न्यूनाधिक जानकारी मिल जाती है।

lezkV & चोल साम्राज्य अपने उत्कर्ष काल में सम्पूर्ण दक्षिण भारत में फैला हुआ था। अन्य युगों की भॉति इस समय भी शासन का स्वरूप राजतंत्रात्मक ही था। किन्तु राजा के अधिकारों आचरण एवं उसकी शान–शौकत में पहले से अधिक वृद्धि हो गयी। उसका अभिषेक एक भव्य राजप्रासाद में होता था और यह एक प्रभावशाली उत्सव हुआ करता था। चोल शासक अपना राज्याभिषेक तंजोर, गंगैकोण्डचोलपुरम, चिदम्बरम्, कांचीपुम् आदि स्थानों में किया करते थे। वे 'चक्रवर्तिगाल', 'त्रिलोक सम्राट' जैसी उच्च सम्मानपरक उपाधियाँ ग्रहण करते थे। मन्दिरों में सम्राट की प्रतिमा भी स्थापित की जाती थी तथा मृत्यु के बाद दैव रूप में उसकी पूजा होती थी। तंजोर के मन्दिर में सुन्दर चोल (परान्तक द्वितीय) तथा राजेन्द्र चोल की प्रतिमायें स्थापित की गयी थी। सम्राट् बहुसंख्यक कर्मचारियों, सामन्तों एवं परिचारकों से घिरा रहता था।[70] चीनी लेखक चाऊ–जू–कूआ सम्राट के भोज का विवरण इस प्रकार करता है– 'राजकीय भोजों के समय राजा तथा उसके दरबार के चार मंत्री राजसिंहासन के नीचे खड़े होकर अभिवादन करते है। तत्पश्चात् वहाँ उपस्थित सभी लोग संगीत, गीत और नृत्य प्रारम्भ कर देते हैं। राजा शराब नहीं पीता है, किन्तु वह मांस खाता है। देशी प्रथा के अनुसार वह सूती वस्त्र पहनता है। अपनी मेज के लिये तथा रक्षक के रूप में कार्य करने के लिये उसने हजारों नर्तकी लड़कियों को नियुक्त कर रखा है। प्रतिदिन तीन हजार लड़कियां बारी–बारी से उसकी सेवा में लगी रहती हैं।[71] इससे स्पष्ट है कि सम्राट की दिनचर्या काफी शान–शौकत से परिपूर्ण थी।

सम्राट के आदेश प्रायः मौखिक होते थे जो उसके पदाधिकारियों द्वारा विभिन्न प्रान्तों में सावधानीपूर्वक लिखकर पहुँचा दिये जाते थे। सम्राट प्रायः अपने जीवन–काल में ही युवराज का चुनाव कर लेता था जो उसके बाद उसका उत्तराधिकारी बनता था। सम्राट के कार्यों में सहायता देने के लिए परिचारको तथा शासन के प्रमुख विभागों का प्रतिनिधित्व करने वाले मन्त्रियों का एक वर्ग होता था। इसके अतिरिक्त उसका अपना कार्यालय भी होता था। चोल सम्राट निरंकुश नहीं होता था तथा धर्म तथा आचार के विरुद्ध कार्य नही करता था। वह कानून का निर्माता न होकर सामाजिक नियमों एवं व्यवस्था का प्रतिपालक होता था। सार्वजनिक हित के कायों जैसे – मंदिर निर्माण, कृषि–योग्य भूमि तथा सिंचाई के साधनों की व्यवस्था, विद्यालयो तथा औषधालयों की स्थापना आदि में उसकी विशेष रुचि होती थी राजपरिवार के अन्य सदस्य, दरबारी अधिकारी आदि सभी सम्राट के आदर्श का अनुकरण करते थे। धार्मिक मामलों में सम्राट राजगुरुओं की परामर्श से ही कार्य करता था।

vfèkdkjh&r= & चोल प्रशासन में एक सुविस्तृत अधिकारी–तन्त्र (Bureaucracy) था जिसमें विभिन्न दर्जे के पदाधिकारी होते थे। केन्द्रीय अधिकारियों की कई श्रेणियाँ होती थी। सबसे ऊपर की श्रेणी को 'पेरुन्दनम्' तथा नीचे की श्रेणी को शिरुदनम्। कहा जाता था। लेखो में कुछ उच्चाधिकारियो को उडनकूट्टम् कहा गया है जिसका अर्थ है–सदा राजा के पास रहने वाला अधिकारी। नीलकठ शास्त्री के अनुसार ये राजा के निजी सहायक थे जो राजा तथा नियमित कर्मचारी–तन्त्र के बीच सम्पक का कार्य करते थे। उनका कार्य सम्बन्धित विभागों के कर्मचारियो को राज्य की नीति बताना तथा राजा को प्रान्तों की आवश्यकताओं से अवगत कराना था। राज्य के प्रबन्ध में भी इनकी महत्वपूर्ण भूमिका होती थी। समाज के अधिकारियों का अलग वर्ग होता था। अधिकारियों के पद आनुवंशिक होने लगे थे तथा नागरिक और सैनिक अधिकारियों में कोई स्पस्ट अन्तर नहीं था। उनकी नियुक्ति तथा पदोन्नति के नियमों के विषय में हमें ज्ञात नहीं हैं। पदाधिकारियो को नगद वेतन के स्थान पर भूमिखण्ड दिये जाते थे। चोल लेखों से पदाधिकारियो की कार्य–प्रणाली पर प्रकाश पड़ता है। पता चलता है कि सम्राट् जब

किसी विषय पर निर्णय देता था तो उससे सम्बन्धित सभी अधिकारी उपस्थित रहते थे। सर्वप्रथम 'ओलै' नामक पदाधिकारी राजा के आदेशों का कच्चा मसौदा तैयार करता था। इसकी जाँच ओलैनायगम् नामक वरिष्ठ अधिकारियो द्वारा की जाती थी। तत्पश्चात इन आदेशो को स्थायी पंजियो में लिपिबद्ध कर सम्बंधित विभागों तक पहुँचा दिया जाता था।

ç'kklfud&foHkkx & प्रशासन की सुविधा के लिये विशाल चोल साम्रज्य छः प्रान्तों में विभाजित था। प्रान्त को 'मण्डलम्' कहा जाता था जिसका शासन एक वायसराय के हाथ में होता था। इस पद पर प्रायः राजकुमारो की नियुक्ति की जाती थी। किन्तु कभी–कभी इस पद पर वरिष्ठ अधिकारियो अथवा पराजित किये गये राजाओं की भी नियुक्ति हो जाती थी। मण्डलम् के शासको के पास अपनी सेना तथा न्यायालय होते थे। कालान्तर में यह पद आनुवंशिक हो गया। प्रत्येक मण्डलम् में केन्द्रीय सरकार का एक प्रतिनिधि रहता था जो मण्डलीय शासक की गतिविधियों पर दृष्टि रखता था। मण्डलम् का विभाजन कई 'कोट्टम् अथवा वलनाडु में होता था, जो आजकल की कमिश्नरियों के बराबर होते थे। प्रत्येक कोट्टम् में कई जिले होते थे। जिले की संज्ञा नाडु थी। नाडु की सभा को 'नाट्टार कहा जाता था जिसमें सभी गांवो तथा नगरो के प्रतिनिधि होते थे। इसका मुख्य कार्य भू–राजस्व में छूट दिला देने का भी अधिकार था। नाडु अपने नाम से दान देते तथा अक्षयनिधियाँ प्राप्त करते थे। नाट्टार को भूमि का वर्गीकरण करने तथा तदनुसार राजस्व निर्धारित करने पर भी अधिकार था। कभी–कभी यह मन्दिर का प्रबन्ध भी करती थी। कुलोतुंग के शासन काल के दसवें वर्ष पुरमलैनाडु के नाट्टार ने तीर्थमले मन्दिर (सेलम जिला) का प्रबन्ध देखने के लिये पुजारी की नियुक्ति की थी। करिकाल कालीन जबै। लेख से पता चलता है कि वाणगप्पडि के नाडु को वालैयूरनक्कर योगवाणर के मन्दिर का प्रबन्ध सौंपा गया था। कुछ स्थानों में हम नाट्टार को अन्य संघटनों तथा राजकीय पदाधिकारियों के साथ मिलकर न्याय प्रशासन एवं अन्य कार्यों में सहयोग करते हुए पाते है। नाडु के अन्तर्गत अनेक ग्राम संघ थे जिन्हें कुर्रम कहा जाता था। व्यापारिक नगरों में नगरम् नामक व्यापारियों की एक सभा होती थी। व्यापारियों की संस्थाओं (श्रेणियों) को सरकार की ओर से मान्यता प्राप्त थी। उनके पास अपनी

सेना भी थी जिससे वे अपनी सुरक्षा करते थे। प्रशासन की सबसे छोटी इकाई ग्राम–सभा होती थी।[72]

xkeS'kklu & चोल–शासन की सबसे उल्लेखनीय विशेषता वह असाधारण शक्ति तथा क्षमता है जो स्वायत्तशासी ग्रामीण संस्थाओं के संचालन में परिलक्षित होती है। वस्तुतः स्वायत्त शासन पूर्णतया ग्रामों में ही क्रियान्वित किया गया। उत्तरमेरूर से प्राप्त 919 तथा 929 ई. के दो लेखों के आधार पर हम ग्राम सभा की कार्यकारिणी समितियों की कार्य–प्रणाली का विस्तृत विवरण प्राप्त करते है। प्रत्येक ग्राम में अपनी सभा होती थी जो प्रायः केन्द्रीय नियन्त्रण से मुक्त होकर स्वतन्त्र रूप से ग्राम–शासन का संचालन करती थी। इस उद्देश्य से उसे व्यापक अधिकार प्राप्त थे ग्रामों में मुख्यतः दो प्रकार की संस्थायें कार्यरत थी। (1) उर (2) सभा या महासभा।

1- mj & शास्त्री के अनुसार इससे तात्पर्य पुर से है जो गाँव और नगर दोनों के लिये प्रयुक्त होता था। कुछ लेखों में ऊराय–इशैन्दु–उरोम् अर्थात ग्रामवासी उर के रूप में मिले, उल्लिखित मिलती है। इससे सूचित होता है कि उर की बैठकों में सभी ग्रामवासी सम्मिलित होते थे और यह सामान्य मनुष्यों की संस्था थी। उर की कार्यदृसमिति को आलुगणम् (शासककृगण) अथवा गणम् कहा जाता था। समिति के सदस्यों की संख्या अथवा उनके चुनाव की विधि के सम्बन्ध में कोई जानकारी नहीं मिलती। ऐसा लगता है कि कुछ सभाओं के लिये एक ही कार्य समिति होती थी जो सभी विषयों की देख–रेख करने के लिये उत्तरदायी थी क्योंकि कुछ कार्यसमितियों में हम विद्वान ब्राह्मणों को भी सदस्य के रूप में देखते है। कहीं–कहीं एक ही ग्राम में दो उर संगठन कार्य करते थे। 1227 ई. में शातमंगलम् में दो उर थे – पहला हिन्दू देवदान भाग के निवासियों का तथा दूसरा जैन पल्लिच्चन्दम् लोगों का। दोनो ने मिलकर कुछ भूमि एक तालाब तथा पुष्पवाटिका के लिये दान में दिया तथा उसे करमुक्त घोषित कर दिया। 1245 ई. में उरतूकुर्रम् तथा अमणकुंडि नामक ग्रामों में दो–दो उर कार्य कर रहे थे।

2- lHkk ;k egklHkk & यह अग्रहार (ब्राह्मणों को दान में दिये गये) ग्रामों में होती थी। ऐसे ग्रामों को ब्रह्मदेय' अथवा 'मंगलम् भी कहा गया है। अग्रहार ग्रामों में मुख्यतः विद्वान ब्राह्मण निवास करते थे। तोडमण्डलम् तथा चोलमण्डलम् के लेखों से

अग्रहार के विषय में सूचना मिलती है। इनसे स्पष्ट है कि कांची तथा मद्रास क्षेत्रों में ऐसी कई सभायें थी।[73] सभा मुख्यतः अपनी समितियों के माध्यम से कार्य करती थी। इन्हें वरियम्' कहा गया है। इस शब्द का अर्थ स्पष्ट नहीं है। तमिल में इसका अर्थ आय तथा कन्नड में 'कड़ी माँग है। शास्त्री इसे संस्कृत 'वार्य का तमिल रूप मानते है जिसका अर्थ है चुना हुआ। एक लेख में सभा की कार्यसमिति को वरणम् कहा गया है। सभा द्वारा किसी कार्य विशेष के लिये नियुक्त व्यक्तियों को 'वारियर कहा गया है।[74] सभा द्वारा किसी कार्य विशेष के लिये कार्य सौंपा जाता था। कहीं मन्दिर का प्रबन्ध करने तथा कहीं देवदान भूमि का प्रबन्ध विवरण देने और उसकी सीमा लिखने का कार्य वारियम् ो को दिया गया है। ज्ञात होता है कि जब शुचीन्द्रम् के मूलपरूडे (एक धार्मिक संगठन) ने मन्दिर का प्रबन्ध छोड़ दिया तो सभा ने इस कार्य के लिये दो वारियरों को नियुक्त किया। वारियम् के सदस्यों को कोई पारिश्रमिक अथवा पुरस्कार नहीं दिया जाता था।

कभी–कभी ये दोनों ही संस्थाएँ एक ही ग्राम में कार्य करती थी। जिन स्थानों में पहले से कोई बस्ती होती थी तथा वे बाद में ब्राह्मणों को दान में दे दिये जाते थे वहाँ उर तथा सभा साथ–साथ कार्य करती थी। ऐसे गांवों के मूल निवासी उर में मिलते थे जबकि नवागन्तुक ब्राह्माण अपनी सभा गठित कर लेते थे। ग्रामसभा के सदस्यों की संख्या भिन्न–भिन्न स्थानों पर भिन्न–भिन्न होती थी। कहीं–कहीं सभी वयस्क पुरूष इसके सदस्य होते थे जबकि कुछ स्थानों में यह एक निर्वाचित संस्था थी। ऐसी स्थिति में इसके सदस्यों का चुनाव ग्रामवासियों द्वारा किया जाता था तथा सदस्यों के लिये कुछ निर्धारित योग्यतायें भी होती थीं। ग्रामसभा स्थान को ब्राह्मस्थान कहा जाता था। कभी–कभी गाँव के बाहर वृक्षों के नीचे अथवा किसी तालाब के तट पर भी ग्राम सभा की बैठके होती थीं तथा इन्हें ढोल पीटकर आहूत किया जाता था। प्रत्येक सभा अथवा महासभा के अन्तर्गत कई समितियाँ होती थीं जिन्हें 'वारियम कहा जाता था। ये समितियाँ अलग–अलग विभागों का काम देखती थीं। कुछ प्रमुख समितियाँ इस प्रकार थीं– दान–समिति, उपवन–समिति, सिंचाई समिति, कृषि–समिति, शिक्षा–समिति, भूमि–प्रबन्ध समिति,

मन्दिरों की देख–रेख करने वाली समिति, लेखा–जोखा समिति, मार्गों एवं सड़कों की देख–रेख करने वाली समिति आदि।[75]

उत्तरमेरूर से प्राप्त परान्तक प्रथम कालीन दो अभिलेखों (919 से 921 ई0) से समिति के सदस्यों के निर्वाचन के सम्बन्ध में भी कुछ सूचनायें दी गयी है तदनुसार समिति के सदस्यों को चुनने के लिये प्रत्येक गाँव को 30 वाडों में बाँटा जाता था। ग्राम के लोग, जो 35 से 70 वर्ष की आयु के होते थे, नेक होते थे, जिनके ग्राम 1/4 वेलि अर्थात डेढ़ एकड़ भूमि होती थी, जो एक सदस्य निर्वाचित हो सकते थे। अपराधी, चरित्रहीन, समिति की आय–व्यय में घोटाला करने वाला सदस्य निवांचित हो सकते थे। अपराधी, चरित्रहीन, समिति की आय–व्यय में घोटाला करने वाला तथा शूद्रों के सम्पर्क से दूषित हुआ व्यक्ति समिति का सदस्य नहीं बन सकता था। प्रत्येक वार्ड से एक–एक व्यक्ति का चुनाव लाटरी निकाल कर किया जाता था। प्रत्येक उम्मीदवार का नाम अलग–अलग पत्रों पर लिखकर एक बर्तन में रखा जाता था और उसे हिलाकर मिला दिया जाता था। तत्पश्चात् किसी अबोध बच्चे से एक पत्र उठाने को कहा जाता था। वह जिस व्यक्ति के नाम का पत्र उठा लेता था वह समिति का सदस्य बन जाता था। इस प्रकार कुल 30 व्यक्ति चुन जाते थे जिन्हें विभिन्न समितियों में रखा जाता था। ऐसी व्यवस्था थी कि केवल वह व्यक्ति, जो पिछले तीन वर्षों से किसी समिति का सदस्य नहीं रहा है, ही नया सदस्य चुना जाय। इस प्रकार प्रत्येक ग्रामवासी को समिति का सदस्य बनने का अवसर मिल जाता था। इन विभिन्न समितियों के अतिरिक्त एक सामान्य समिति होती थी जिसे 'सम्वत्सरवारियम् कहा जाता था। इसका कार्य सभी समितियों के कायों की देखरेख करना होता था जो व्यक्ति पहले किसी समिति का सदस्य रह चुका होता तथा जो पर्याप्त अनुभवी होता था वही सामान्य समिति का सदस्य बन सकता था। महासभा को पेरूगुर्रि इसको सदस्यों का पेरूमकक्ल तथा समिति को 'वारियप्पेरूमक्कल कहा जाता था।

ग्रामसभा को राज्य के प्रायः सभी अधिकार मिले हुये थे। उसके पास सामूहिक सम्पत्ति होती थी जिसे वह जनहित में बेच सकती अथवा बन्धक रख सकती थ। यह न्याय का भी काम करती तथा ग्रामवासियों के सामान्य झगड़ो का

फैसला करती थी। ग्रामसभा के पास बैंक भी होते थे तथा वह धन, भूमि तथा धान्य के रूप में जमा राशि प्राप्त करती तथा फिर ब्याज पर उन्हें वापस लौटा देती थी। गाँव की सभी अक्षयनिधियाँ ग्रामसभा के अधीन होती थीं। सभा को ग्रामवासियों पर कर लगाने, वसूलने तथा उनसे बेगार लेने का भी अधिकार था। पीने के पानी, उपवनों, सिंचाई तथा आवागमन के साधनों की व्यवस्था करना ग्रामसभा के मुख्य कार्य थे। अकाल अथवा संकट के समय यह ग्रामवासियों की उदारतापूर्वक मदद करतीं थी। ग्रामसभा मन्दिरों शिक्षण–संस्थाओं एवं दान–गृहों का भी प्रबन्ध चलाती थी तथा राजस्व संग्रह कर सरकारी कोष में जमा करती थीं। ग्रामवासियों के स्वास्थ्य, जीवन एवं सम्पत्ति की रक्षा करना भी ग्रामसभा का कर्तव्य था केन्द्र सरकार को वार्षिक कर देना उसकी प्रमुख जिम्मेदारी थी। जब तक ग्रामसभा अपने कर्तव्यों का पालन करती रहती तथा राज्य को नियमित कर पहुँचाती रहती, राज्य उसके शासन में हस्तक्षेप नहीं करता था। परवर्ती चोल युग में हमें केन्द्रीय सरकार द्वारा सभा में हस्तक्षेप को कुछ उदाहरण मिलते हैं। ज्ञात होता है कि सभा के सदस्यों की आपसी गुटबन्दी तथा अन्तर्कलह के कारण जब प्रशासन में अव्यवस्था उत्पन्न हो गयी तथा हिंसा की आशंका हुई तो राजा ने अपने अधिकारियों की सूचना पर सभा में सुधार के लिये आदेश निर्गत किये। ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जबकि दो सभाओं में परस्पर विवाद की स्थिति में उन्होंने ही मध्यस्थता के लिये तीसरी सभा को मामला सौंप दिया तथा राज्य को सूचना नहीं दी। इससे स्पष्ट है कि ग्राम ग्रामसभाएँ अपना कार्य करने के लिये स्वतंत्र होती थी ग्रामसभा के आय–व्यय का निरीक्षण समय–समय पर केन्द्रीय पदाधिकारी किया करते थे। यदि राज्य कोई ऐसा नियम बनाता जो किसी ग्राम की स्थिति को प्रभावित करता था तो वह नियम ग्रामसभा की स्वीकृति से ही होता था। सामान्यतः ग्रामसभा तथा केन्द्रीय सरकार के सम्बन्ध सौहाद्रपूर्ण हुआ करते थे।

ग्रामसभा के अतिरिक्त गाँव में कई समुदाय और निगम होते थे जो सामाजिक, धार्मिक या आर्थिक प्रकृति के थे। इनका अधिकार–क्षेत्र किसी कार्य–विशेष तक ही सीमित होता था। उदाहरण के लिये किसी मन्दिर का प्रबन्ध देखने अथवा व्यवसाय का संचालन करने के लिये समुदाय गठित किए जाते थे।

समुदायों पर ग्राम सभा का ही सामान्य नियन्त्रण रहता था। समुदाय के सदस्य सभा के भी सदस्य थे। विभिन्न समुदायों में झगड़ा होने पर ग्रामसभा ही फैसला करतीं थीं। धर्म के आधार पर बने हुये समुदायों की संख्या अधिक थी जो अपने–अपने स्थानों में मन्दिरों का प्रबन्ध करते थे। मन्दिर के पुजारियों के भी अपने संगठन होते थे। मूलपरूडैयार नामक एक धार्मिक संगठन का उल्लेख मिलता है जिसका मुख्य कार्य मन्दिरों का प्रबन्ध करना था। परान्तक प्रथम के समय से लेकर राजराज प्रथम के समय तक शुचीन्द्रम् में यह संगठन स्थानीय महासभा के अधीन कार्य कर रहा था। बाद में उसने मन्दिर का प्रबन्ध छोड़ दिया तथा अपने को समाप्त कर दिया। तत्पश्चात् मन्दिर प्रबन्ध का कार्य पुनः महासभा ने ले लिया। शैव पुजारियों को शिव ब्राह्मण तथा वैष्णव पुजारियों को वैखानस' कहा जाता था। इनके कुछ संगठन इस प्रकार मिलते हैं– अल–नालिगे शिवब्राह्मणर, पति–पाद मूलत्तर, तिरूवुण्णलिगैक कणप्पैरूमक्काल, तिरू–वुण्णालिगै–सभे आदि। गाँवों को शेरियों, सड़कों और खण्डों में विभाजित किया गया था। प्रत्येक 'शेरि में एक समुदाय होता था। जिसके जिम्मे अनेक प्रकार के कार्य होते थे। प्रत्येक 'शेरि का प्रतिनिधि ग्राम सभा की प्रबन्ध समिति में होता था उत्तमचोल के समय में दो शेरियों को उरगम् के मन्दिर का प्रबन्ध करने का काम सौंपा गया था। ज्ञात होता है कि तलैच्चगाडु (तंजोर जिला) में बढ़इयों, सुनारों, धोबियों, गडेरियों आदि के व्यवसायिक समुदाय थे जिन्हें 'कलने कहा जाता था। कुछ समुदायों की सामाजिक स्थिति निम्न मानी जाती थी। विभिन्न

समुदायों के आपसी सम्बन्ध सदभाव पर आधारित होते थे तथा उनका नियमन करने के लिये किसी सरकार अथवा कानून की आवश्यकता नहीं समझी गयी थी। स्थानीय सभायें और समुदाय परस्पर मेल–मिलाप एवं सहयोग के वातावरण में कार्य करते थे। धर्म तथा प्राचीन परम्परायें इन्हें परस्पर जोड़ने का काम करती थीं। सभाओं तथा समुदायों के नेतृत्व का निर्धारण आयु विद्वता सम्पति तथा जन्म के आधार पर किया जात था। नगरों में व्यापारियों के विभिन्न संगठन थे जैसे मणिग्रामम्, वलजीयर आदि। अधिकांश लेखों में व्यापारिक क्षेत्र के लिए नगरम् का प्रयोग हुआ है। ये उन्हीं स्थानों पर होते थे जहाँ व्यापार दूसरे व्यवसायों पर प्रभावी रहता था। इनका नामकरण प्रायः इनके निवास–स्थानों के आधार पर ही किया गया

था। इनका कार्य व्यापार को प्रोत्साहन देना था। पेशेवर जातियों में भी निजी उद्देश्यों की पूर्ति के लिये अपने–अपने समुदायो का गठन कर लिया था। से सभी ग्रामसभा के नियंत्रण में कार्य करते थे। इस प्रकार स्थानीय प्रशासन चोल काल की सर्वाधिक महत्वपूर्ण वस्तु था जो गाँव, नगर तथा मण्डल की सभाओं द्वारा संचालित होता था। प्रत्येक ग्राम वस्तुतः एक लघुगणतन्त्र ही था जिसे अपने कार्यों में स्वायत्तता मिली हुई थी और यह स्वावत्तता इतनी अधिक थी कि उच्चस्तर पर होने वाले प्रशासनिक अथवा राजनैतिक परिवर्तन भी इसे प्रभावित नहीं कर सकते थे। प्रत्येक ग्राम राजनीतिक और आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर था।

U;k; 0;oLFkk & चोल साम्राज्य में न्याय के लिये नियमित न्यायालयों का गठन किया गया था लेखों में 'धर्मासन' तथा 'धर्मासन–भट्ट का उल्लेख मिलता है। धर्मासन से तात्पर्य सम्भवतः सम्राट के न्यायालय से है। न्यायालय के पंडितों को 'धर्मभट्ट' कहा गया है जिनकी परामर्श से विवादों का निर्णय किया जाता था। दीवानी तथा फौजदारी का अन्तर बहुत अधिक स्पष्ट नहीं है। अपराधों में सामान्यतः जुर्माने होते थे। नरवध तथा हत्या के लिये व्यवस्था थी कि अपराधी पड़ोस के मन्दिर में अखण्डदीप जलवाने का प्रबन्ध करे। यह एक प्रकार का प्रायश्चित था। किन्तु मृत्युदण्ड दिये जाने के भी उदाहरण प्राप्त होते है। राजद्रोह भयंकर अपराध था जो स्वयं राजा द्वारा देखा जाता था। इसमें अपराधी को मृत्युदण्ड के साथ ही साथ उसकी सम्पति भी जब्त कर ली जाती थी। तेरहवीं शती के चीनी लेखक चाऊ–जून–कुआ चोल दण्ड–व्यवस्था का इस प्रकार विवरण देता हैकृ 'जब प्रजा में कोई व्यक्ति अपराध करता है तो राजा का कोई मंत्री उसे दण्ड देता है। सामान्य अपराध होने पर अपराधी को एक लोहे के चौखट में बाँध कर उसे पचास, सत्तर या सो दण्डे मारे जाते है। जघन्य अपराधों में अपराधी का सिर काट दिया जाता अथवा हाथी के पैर तले कुचलवा कर दण्ड दिया जाता है। कभी–कभी लोगों को आत्मदाह द्वारा सम्पति का स्वामित्व सिद्ध करना पड़ता था। अग्नि तथा जल द्वारा दिव्य परीक्षाओं का भी विधान था। गवाहियाँ भी ली जाती थी। पशुओं की चोरी के अपराध में व्यक्ति की सम्पति जब्त कर मन्दिर को दिये जाने के उदाहरण मिलते है। इस प्रकार चोल न्याय–प्रशासन सुसंगठित एवं निष्पक्ष था।

Hkfe rFkk jktLo & चोल राज्य की आय का प्रमुख भूमिकर था। भूमिकर ग्राम–सभायें एकत्र करके सरकारी खजाने में जमा करती थीं। इसके लिये चोल शासकों ने समस्त भूमि की माप करायी तथा उसकी उत्पादकता के आधार पर कर का निर्धारण किया। यह आधे से लेकर चौथाई भाग तक होता था। राजराज प्रथम तथा कुलोतुंग प्रथम के समय में क्रमशः एक और दो बार भूमि की माप कराई गयी थी। भूमि की बारह से भी अधिक किस्मों का उल्लेख मिलता है। प्रत्येक ग्राम तथा नगर में रहने के स्थान, मन्दिर तालाब, कारीगरों के आवास, श्मशान आदि सभी प्रकार के करों से मुक्त थे। इसी प्रकार पिडारि के लिये बकरों की बलि का स्थान, कुम्भकार, स्वर्णकार, लौहकार, रजक, बढ़ई आदि के निवास स्थानों को भी करमुक्त रखा गया था। राजस्व विभाग की पंजिका को वरित्पोक्तगककणक्क' कहा जाता था जिसमें सभी प्रकार की भूमि के ब्योरे दर्ज किये जाते थे। कृषकों को यह सुविधा थी कि वे भूमिकर नगद अथवा द्रव्य के रूप में चुकायें। अकाल आदि देवी आपदाओं के समय भूमिकर माफ कर दिया जाता था। कभी–कभी करों को वसूलते समय जनता के साथ कठोर व्यवहार किया जाता था जिससे उन्हें भारी कष्ट होता था। लोगों को पानी में डूबा देने अथवा धूप में खड़ा कर देने का भी उल्लेख मिलता है। एक स्थान पर उल्लेख है कि तंजोर के कुछ ब्राह्मण लगान चुकाने में असमर्थ होने पर अपनी जमीने छोड़कर गाँव से भाग गये तथा उनकी जमीने पड़ोस के मन्दिर को बेच दी गयी। यदि भूस्वामी भूमिकर नहीं देता था तो कुछ समय के बाद उसकी भूमि दूसरे के हाथ बेच दी जाती थी। राजेन्द्र चोल के समय में यह अवधि तीन वर्ष तथा कुलोतुंग के समय में दो वर्ष की थी। बकाये कर पर ब्याज भी लिया जाता था। चोल इतिहास के परवर्ती युग में केन्द्रीय शक्ति के निर्बल होने पर स्थानीय पदाधिकारी मनमाने ढंग से प्रजा का उत्पीड़न करने लगे। जनता द्वारा अन्यायपूर्ण करों के विरूद्ध विद्रोह किये जाने के उदाहरण भी प्राप्त होते है। राजराज तृतीय तथा कुलोतुंग प्रथम के काल में इस प्रकार के विद्रोह किये गये।

भूमिकर के अतिरिक्त व्यापारिक वस्तुओं, विभिन्न व्यवसायों, खानों, वनों, उत्सवों आदि पर भी कर लगते थे। आर्थिक जुर्माने से भी राज्य को बहुत अधिक धन प्राप्त होता था। राज्य की आय का व्यय अधिकारीतन्त्र, निर्माण–कायों, दान,

यज्ञ महोत्सव आदि पर होता था। चोल लेखों में विभिन्न प्रकार के करों का उल्लेख मिलता है, जैसे– आयम (राजस्व), कुडिमै (लगान), मरमज्जाडि (वृक्षकर), किडाककाशु (नर पशु पर लगने वाला कर) पाडिकावल (गांव की रक्षा के लिये लिया जाने वाला कर), वाशल्तिरमम् (द्वारकर), मनैइरै (भवनदृकर), कडेइरै (दुकानो पर लगने वाला कर) आजीवकक्काशु (आजीवकों पर लगने वाला कर) पेवरि (तेलियों से लिया जाने वाला कर) मगन्मै (कुम्हार, लुहार, सुनारों आदि से लिया जाने वाला कर) आदि। अनेक करों का अर्थ स्पष्ट नहीं है।

lU; lxBu & चोल राजाओं ने एक विशाल संगठित सेना का निर्माण किया था। उनके कुल सैनिकों की संख्या एक लाख पचास हजार के लगभग थी। उसके पास अश्व, गज एवं पैदल सैनिकों के साथ ही साथ एक अत्यन्त शक्तिशाली नौसेना भी थी। इसी नौसेना के सहायता से उन्होंने श्रीविजय, सिंहल, मालदीव आदि द्वीपों की विजय की थी। चोल शासक स्वयं कुशल योद्धा थे और वे अधिकतर व्यक्तिगत रूप से युद्धों में भाग लिया करते थे। सेना के कई दल थे। लेखों में बडपेर्र (पदाति) बिल्लिगल (धनुधारी सैनिक), कुदिरेच्चेवगर (अश्वारोही), आनैयाटककलकुंजिरमल्लर (गजसेना) आदि का उल्लेख मिलता हैं। कुछ सैन्यदल नागरिक कायाँ में भी भाग लेते थे तथा मन्दिरों आदि को दान दिया करते थे। कुछ सैनिक सम्राट की सेवा में निरन्तर उपस्थित रहते थे तथा उसकी रक्षा के लिये अपने प्राण तक न्यौछावर कर सकते थे। ऐसे सैनिकों को वेलैकार कहा गया है। सैनिक सेवाओं के बदले में राजस्व का एक भाग अथवा भूमि देने की प्रथा थी।

चोल सैनिक अत्यधिक अनुशासित एवं प्रशिक्षित होते थे। चोल सैनिक क्रूर तथा निर्दयी भी होते थे। विजय पाने के बाद शत्रुओं की वे हत्या कर देते थे। यहाँ तक कि स्त्रियों तथा बच्चों को भी नहीं छोड़ा जाता था। शत्रुनगरों को भी वे ध्वस्त कर देते थे। पाण्ड्य तथा पश्चिमी चालुक्य राज्यों में उनका व्यवहार इसी प्रकार का रहा।

इस प्रकार चोल शासन–व्यवस्था के विभिन्न पहलुओं पर विचार करने के पश्चात् यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन युग की यह एक उत्कृष्ट शासन–प्रणाली थी जिसमें केन्द्रीय नियन्त्रण तथा स्थानीय स्वायत्तता साथ–साथ वर्तमान रही।[76]

चोलों की शासन–व्यवस्था का मूल्यांकन करते हुये इतिहासकार नीलकण्ठ शास्त्री लिखते है– 'एक योग्य नौकरशाही तथा सक्रिय स्थानीय संस्थाओं के बीच, जो विविध प्रकार से नागरिकता की भावना का पोषण करती थीं, शासन ने निपुणता तथा शुद्धता का एक उच्च स्तर प्राप्त कर लिया गया था, जो सम्भवतः किसी हिन्दू राज्य द्वारा प्राप्त सर्वोच्च स्तर था।'

jk"VªdwV&lkezkT; dh 'kklu 0;oLFkk

lezkV

lEiw.kZ 'kklu & सत्ता का केन्द्र राजा था। महाराधिराज परम भट्टारक इत्यादि पदवियों से इस वंश के सभी राजा विभूषित थे। किन्तु उनमे से प्रत्येक की एक–एक विशिष्ट पढ़वी भी रहती थी। जैसे – धारावर्ष, अकालवर्ष (आकस्मिक सम्पत्ति की वर्षा करने वाला), सुवर्णवर्ष, विक्रमावलोक, जगत्तुंग इत्यादि। शासनालय राजधानी में होता था व राजदरबार भी प्रायः वहीं ही बैठता था। साम्राज्य की शक्ति व ऐश्वर्य राजदरबार में भी प्रतिबिम्बित थे। दरबार के बाहर प्रांगण में हस्तिदल, अश्वदल व पदाति दल के दस्ते अपने–अपने अधिकारियों के साथ पहरा देते थे। युद्ध विजय में शत्रुओं से प्राप्त हुए हाथी, घोड़े इत्यादि का प्रदर्शन भी वहाँ किया जाता था, जैसे आजकल के संग्रहालय के बाहर शत्रुओं की तोपों का प्रदर्शन होता था। सामंत व विदेशी राजदूत, पहले एक आसन्न कमरे में बैठाए जाते थे। योग्य व पूर्व निश्चित समय पर राजप्रतीहारी उनको सिंहासन के सामने प्रविष्ट करके राजा से मुलाकात कराता था। राजा अपने ऐश्वर्यानुरूप मोती, रत्न, सुवर्ण इत्यादि के अलंकारों से विभूषित रहता था। उसके पास शरीर–रक्षक शस्त्रों से सुसज्जित रहकर पहरा देते थे। नर्तकियाँ भी दरबार के समय सुन्दर साड़ियां व अलंकार पहनकर हाजिर रहती थीं, जिससे दरबार की शोभा बढ़ जाती थी। उचित समय पर उनका गान, नाच व वाद्य–वादन होता था, जिसके लिए राजधानी के प्रतिष्ठित नागरिक भी कभी–कभी बुलाए जाते थे । सामंत, विदेशी–ढूत, सैन्य व शासन–यंत्र के श्रेष्ठ अधिकारी, कवि, वैद्य, ज्योतिषी, श्रीमान्, व्यापारी इत्यादि प्रतिष्ठित व्यक्तियों को दरबारमे उचित स्थान दिये जाते थे।

;qojkt

राजपद आनुवांशिक था। प्रायः ज्येष्ठ पुत्र युवराज होता था। योग्य शिक्षा–दीक्षा के पश्चात् उसका युवराजाभिषेक किया जाता था। किन्तु कभी–कभी ज्येष्ठ पुत्र की बजाए उसका छोटा भाई भी युवराज चुना जाता था। जैसे कि तृतीय गोविन्द के बारे में हुआ। लेकिन यह सामान्य परम्परा से सुसंगत नहीं था।

युवराजाभिषेक के पश्चात् भी गोविन्द को अपने बड़े भाई से लड़ना पड़ा, जिसको अनेक राजाओं ने राज्य का योग्य उत्तराधिकारी समझकर मदद पहुँचायी थी। कभी–कभी ज्येष्ठ पुत्र राज्य प्राप्ति के पश्चात् अपने छोटे भाईयों द्वारा पदच्युत भी किये जाते थे। जैसे कि ध्रुव व चतुर्थ ग्गोविंद के बारे में हुआ।

प्रायः युवराज राजधानी में रहकर शासन–संचालन में हाथ बँटाता था। अभियान के समय वह सम्राट् के साथ जाता था। कभी–कभी ऐसे समय में उसे सेना का नेतृत्व भी दिया जाता था। 770ई. में वेंगी के राजाओं के विरूद्ध लड़ाई का संचालक युवराज गोविंद द्वितीय था। दूसरे राजपुत्र प्रायः प्रान्तपति बनाये जाते थे। राष्ट्रकूटशासन–पद्धति में शज पुत्रियाँ अधिकार–पढ़ पर विराजमान नहीं दीखती हैं। इस विषय में हमे केवल एक ही अपवाद मिलता है; प्रथम अमोघवर्ष की पुत्री चन्दवेलब्बा रायचूर दोआब की शासनाधिकारिणी थी (837 ई.)। उत्तर–चालुक्य काल में (975 ई. से 1150 ई. तक) राजवंशीय स्त्रियों की शासन–संचालन में भाग लेने की प्रथा रूढ़ हो गई। प्रथम सोमेश्वर की एक रानी मैलादेवी तृतीय जयसिंह की भगिनी अक्कादेवी, षष्ठ विक्रमादित्य की पट्टयानी लक्ष्मीदेवी चालुक्य शासन–प्रणाली में बहुत जिम्मेदारी के पद पर कार्य–संचालन करती थीं। राष्ट्रकूट काल में ध्रुव की रानी शील भट्टारिका स्वयं एक ताम्रपत्र दान करती हुई दीखती हैं, उसमें उसके पति का नाम – निर्देश नहीं मिलता। ये मानने के लिए कुछ ठोस प्रमाण नहीं हैं कि श्रील भट्टारिका राज्य करने वाली रानी (regnant queen) थी। न कि केवल पट्टरानी। राजा यदि राज्यारोहण के समय नाबालिका होता था तो राजपालक (regent) का कार्य प्रायः कोई पुरुष रिश्तेदार करता था न कि उसकी माता। ऐसे समय अनेक बार विद्रोह हुआ करते थे, इसीलिए यहप्रथा रूढ़ हो गयी। पुरुष रिश्तेदार वैधव्य–पंकभग्न राजमाता की तुलना में अधिक सफलता से सैन्य संचालन व विद्रोह शमन कर सकता था।

ef=ifj"kn

राष्ट्रकूट–सम्राट मंत्रिमण्डल की सहायता से राज्य करता था। मंत्रिमंडल में समकालीन शासन–पद्धति के समान मुख्यमंत्री, विदेश मंत्री, कोष–मंत्री, मुख्य ज्यायाधीश, मुख्य पुरोहित, मुख्य सेनापति इत्याढि उहते थे, ऐसा। अनुमान करना

गलत न होगा। आजकल के जमाने में मंत्री व उसके विभागाध्यक्ष अलग होते हैं। वैसी प्रथा प्राचीनकाल में सर्वत्र रूढ़ नहीं थी। मंत्रियों में कौन से गुण व विशेषताएँ अपेक्षित थीं व वे कैसे चुने जाते थे, इस विषय में हमें सम्यक ज्ञान नहीं है। राजनीतिक व सैनिक योज्यता के कारण वे चुने जाते होंगे। बहुसंख्यक मंत्री सैनिक अधिकारी थे। ध्रुव के विदेश मंत्री डल्ल के समान कुछ मंत्री या सामंत जागीर पाते थे। प्रायः राजा का मंत्रियों पर पूरा विश्वास रहता था। वह उनको अपने ढाहिजे हाथ के समान प्रिय व उपयोगी समझता था।

मौर्य काल में अमात्य व गुप्त काल में कुमारामात्य उच्च श्रेणी के अधिकारी थे। राष्ट्रकूट शासन–प्रणाली में ऐसे अधिकारी जरूर होंगे, किन्तु उनकी पदवी का ज्ञान अब तक हमें नहीं है। केन्द्रीय सरकार प्रान्तपालों व जिलाधीशों पर कैसा नियंत्रण करती थीं, यह भी अब तक मालूम नहीं हुआ है। दौरे करने वाले अधिकारियों द्वारा यह कार्य सम्पन्न होता होगा। आवश्यकता के अनुसार प्रान्तपाल, जिलाधीश इत्यादि अधिकारी राजधानी में भी बुलाए जाते थे और वहाँ केन्द्रीय सरकार उनसे पूछताछ करती थी। गुप्तचर भी साम्राज्य में इतस्ततः बिखरे रहते थे। वे केन्द्रीय सरकार को साम्राज्य की अंतःस्थिति व अधिकारियों की चाल के विषय में प्रतिवेदन भेजते थे।

çkrh; 'kklu &

राष्ट्रकूट साम्राज्य के कुछ भागों पर केन्द्रीय सरकार स्वयं शासन करती व कुछ मार्गों पर मांडलिक सामंतों द्वारा शासन होता था। गुजरात के राष्ट्रकूट जैसे महत्वपूर्ण मांडलिक आंतरिक शासन में प्रायः पूर्णाधिकारी रहते थे उनके अधीन उनके उपसामंत भी थे, जिनको अत्यल्प अधिकार रहते थे। गांव या करों का दान करने से पहले उनको अपने नियंत्रक सामंत व सम्राट की अनुमति लेनी पड़ती थी। सामंतों से यह अपेक्षा की जाती थी कि निश्चित समय पर राजधानी में आकर अपनी राजनिष्ठा व्यक्त करें, व यदि उनकी चाल या कार्य के कारण केन्द्रीय सरकार के मन में आशंका आ गई हो तो, उसका निवारण करें। निश्चित समय पर उनको सम्राट की सरकार को उपायन (Tributes) देने पड़ते थे व उनके युद्ध के समय पूर्वनिश्चित संख्यक सैन्य भेजने पड़े थे। कभी–कभी वे स्वयं आकर सम्राट के

युद्ध में सक्रिय व महत्वपूर्ण भाग लेते थे। वे सम्राट के प्रतिनिधि को अपने ढरबार में रखने के लिए बाध्य किये जाते थे। वे स्वयं भी अपने एक दूत की सम्राट की सरकार की नीति के विषय में समय–समय पर प्रतिवेदन (report) भेजे। यदि वे विद्रोह करें तो उनको परास्त किया जाता था, व पराजय के पश्चात् उनको अनेक अपमान सहन करने पड़ते थे। उनको अपना कोष व सैन्य सम्राट को अर्पित करना पड़ता था, और वह कभी–कभी उनको अपनी अश्वशाला की सफाई करने का अपमानकारक काम करने की सजा देता था।

ftyk rFkk uxj ç'kklu

राष्ट्रकूट साम्राज्य का जो भाग सामन्त–शासित नहीं था, वह राष्ट्र व विषयों में विभाजित था। राष्ट्र कमिश्नरी के बराबर था, व विषय जिले के बराबर। पुणक (पूना) विषय में एक हजार व कर्हाटक विषय में चार हजार गांव थे। विषय अनेक भुक्तियों में विभाजित था, जिनमें प्रायः 80 से 70 गांव रहते थे। दक्षिण भारत की राष्ट्रकूटकालीन 'भुक्ति' हर्षकालीन 'भुक्ति' की तरह कमिश्नरी के समान बड़ा शासन–विभाग न थी। भुक्ति में दस से बीस गांव के चार–पांच गुट रहते थे, जो महत्वपूर्ण गांव के नाम से सम्बोधित किये जाते थे। सबसे छोटा शासन विभाग गांव था।

राष्ट्र चार–पांच जिलों के बराबर था, व उसके अधिपति को राष्ट्रपति कहते थे। अपने विभाग की शासन–व्यवस्था व सेना का प्रबंधन उसके अधीन रहता था। शान्ति–सुव्यवस्था रखना, कर वसूलना व सामंतों का नियंत्रण करना, उसके मुख्य काम थे। यदि कोई सामंत विद्रोह करे तो सेना के द्वारा उसको परास्त करने में वह विलम्ब नहीं कर सकता था। राष्ट्रपति के पास आवश्यक संख्या में सैनिक रहते थे और प्रायः वह स्वयं उनका नेतृत्व करता था। कभी–कभी वह स्वयं सामंतों में से एक होता था। राष्ट्रपति के अधिकार गुप्तकालीन उपरिकों के प्रायः बराबर थे।

आधुनिक कमिश्नरों के समान राष्ट्रपति को माल–विभाग में बहुत कार्य करना पड़ता था। जमीन–महसूल उपयुक्त समय पर उचित मात्रा में वसूलना, जमीन–मालिकों की सूची तैयार करना, देवदाय व ब्रह्मदाय में दान दिये हुए ग्रामों को इतर ग्रामों से अलग करना उनके काम थे। राजा की अनुमति के बिना वे

ग्राम–जमीन, या करों का दान नहीं कर सकते थो। विषयपति, भोगपति इत्यादि अधिकारियों की नियुक्ति करने का भी उनको अधिकार नहीं था।

विषयपति को अपने विषय में व भोगपति को अपनी भुक्ति में राष्ट्रपति के समान अधिकार थे। उनमें भी कभी–कभी छोटे सामंत रहते थे।

उपरिनिर्दिष्ट पदों पर जो अधिकारी नियुक्त किये जाते थे उनमे शासन–कला में नैपुण्य व सैन्य–संचालन में कौशल की अपेक्षा की जाती थी। कभी–कभी ये पद आनुवंशिक होते थे; विशेषतः जब मूल अधिकारी के पुत्र अपने पिता के समय की सम्राट् के सामने अपनी योग्यता सिद्ध कर देते थे।

सम्राट द्वारा नियुक्त विषयपति व भोगपति अपना कार्य नाडगावुंडो या देश–ग्राम–कूटों के सहयोग से करते थे। मुस्लिम और मराठा शासन–पद्धति में देशमुख व देशपाण्डे जैसे आनुवंशिक अधिकारी थे, वैसे ही नाडगावुंड व देशग्रामकूट भी इस समय थे। उनको भी वेतन के स्थान में इनाम या जागीर दी जाती थी। विषयपति के साथ काम करने वाले ऐसे आनुवांशिक अधिकारी उत्तर भारत में नहीं थे।

xke&'kklu

ग्राम–शासन की जिम्मेदारी ग्राम–मुखिया (ग्रामकूट) पर थी। एक लेखक उसकी मदद करता था। ग्राम्य शांति या सुव्यवस्था रखना, ग्राम कूट का कर्तव्य था। उसके अधीन एक छोटी–सी स्वयं स्फूर्ति से काम करने वाली अवैतनिक ग्राम सेना थी जो उसको ग्राम–संरक्षण में मदद देती थी। ग्राम्य शांतिभंग चोरादिकों द्वारा उतना नहीं होता था, जितना सामंतो के विद्रोहों से या ग्रामों के झगड़ों से। ऐसे समय पर ग्रामकूट को स्थानीय सेना का नायकत्व करना पड़ता था व कभी–कभी अपने गांव की रखा के लिए उसको युद्ध में अपने जीवन को भी समर्पित करना पड़ता था। गांव के कर वसूलना तथा उनकी सरकार के पास भेजना भी उसका कार्य था। वेतन के बजाए उसकी इनाम में जमीन मिलती थी। ग्राम में लेखक उसके अधीन अपना काम करता था।

ग्राम–शासन में ग्राम–निवासियों को पर्याप्त अधिकार थे। कर्नाटक व महाराष्ट्र में हर एक ग्राम में एक ग्राम–पंचायत रहती थी। गांव के अनुभवी, वृद्ध व सचरित्र लोग (ग्राम–महत्तर) प्रायः सर्वसम्मति से पंचायतों के प्रतिनिधियों को चुनते थे। उनका विधिविहित (Formal) निर्वाचन नहीं होता था। तालाब, मंदिर, रास्ते, सत्र इत्यादि कार्यों के लिए पंचों की उप–समितियाँ रहती थीं, जो ग्रामकूट के सहयोग से अपना कार्य करती थीं। पंचायतें, ट्रस्टी (Trustee) का काम भी करती थीं कि उनकी इच्छा के अनुसार सत्रादिक चलान में उनकी वार्षिक आमदनी का वह यावच्चन्द्रदिवाकरौ व्यय करेगी गांव की जमीन–मैहसूल का एक पर्याप्त हिस्सा पंचायत को अपना कार्य करने के लिए मिलता था। ग्राम–पंचायतें दीवानी मुकदमों का निर्णय करती थीं, जिनको कार्यान्वित करने की जिम्मेदारी सरकार पर थी। शहरों की शासन–व्यवस्था गांव की शासन–व्यवस्था से मिलती जुलती थी।

'राष्ट्र महत्तर' व 'विषय महत्तर' का उल्लेख कभी–कभी राष्ट्रकूट अभिलेखों में आता है जिससे अनुमान किया जा सकता है कि राष्ट्र व विषय के मुख्य नगरों में राष्ट्रपति व विषयपति की मदद करने के लिए एक गैर सरकारी समिति रहती थी, यदि वह रहती होगी, तो उसका कार्य ग्राम महत्तरों के समान ही होगा। किन्तु यद्यपि राष्ट्र महत्तरों का विषय महत्तरों का उल्लेख मिलता है, तथापि उनकी समिति का उल्लेख नहीं मिलता है। यदि ऐसा हो तो गुप्तकालीन बंगाल में दामोदरपुर जिले में जैसी एक जिला पंचायत थी, वैसी ही राष्ट्रकूटों के राष्ट्रों व विषयों में भी एक गैर सरकारी समिति शासन व्यवस्था में सहयोग देती थी व लोगों की इच्छा के अनुसार अधिकारियों का आंशिक नियंत्रण भी करती थी। इस विषय में निश्चित निर्णय पर पहुँचना इस समय कठिन है।

राष्ट्रकूट राजधानी में कोई लोकसभा राज्य शासन का नियंत्रण करती हुई नहीं दिखाई देती। प्रायः वह अस्तित्व में न थी। यातायात के शीघ्र साधन के अभाव के कारण ऐसी सभा का संगठन करना उस समय आसान कार्य नहीं था। राष्ट्रकूट–शासन में लोकमत का प्रभाव प्रत्यक्ष रूप से गांव व नगर, व संभवतः विषय या राष्ट्र में पड़ता था। किन्तु यह हमें नहीं भूलना चाहिए कि इस समय ग्राम व नगर के अधीन आजकल की प्रान्तीय सरकार के भी कुछ अधिकार रहते थे।

इसलिए उस पर नियंत्रण रखकर लोग अप्रत्यक्ष रूप से केन्द्रीय सरकार पर भी कुछ दबाव डाल सकते थे।

lU; lxBu

राष्ट्रकूट–सम्राट विजिगीषु होने के कारण हमेशा पड़ोसियों को जीतना चाहते थे। इसलिए उनकी सेना विशाल व शक्तिशाली थी। सैनिकों की निश्चित संख्या कितनी थी, यह हमें ज्ञात नहीं है। हर्ष के समान उनके सैन्य में भी पांच लाख से कम सैनिक नहीं होंगे। सैन्य का एक भाग राजधानी में रहता था। वनवासी के प्रान्तकाल के अधीन एक दक्षिण दिशा का सैन्य रहता था, जिसका उल्लेख अभिलेखों में आया है। हो सकता है कि उत्तर व पूर्व दिशाओं के भी एक–एक अलग सैन्य विभाग हो। इन सेना–विभागों के नायक प्रायः राजपुत्र थे। उनका कर्तव्य था कि साम्राज्य को पड़ोसियों को बचायें व उन पर उचित समय पर स्वयं अभियान करें। पदाति दल के लिए सैन्य विख्यात था, किन्तु उसमें घुड़सवार भी पर्याप्त थे। मौलिक दल में सैनिक वंश परम्परा के सिपाही रहते थे जो अपने लोकोत्तर शौर्य के लिए प्रसिद्ध थे। सामंतों के दस्ते भी सैन्य में अभियान के समय मिलाए जाते थे। सैनिक वंश के सिपाही अपने–अपने गांव में बचपन में ही पर्याप्त शिक्षा पाते थे। जब वे सैन्य में भर्ती किये जाते थे तब उनको अधिक शिक्षा दी जाती थी। कुछ भूतपूर्व सैनिक अधिकारी स्वयं लोगों को शिक्षा देकर उनको प्रभावी सैनिक बनाते थे व पीछे सरकारी सैन्य में उनकी भर्ती की जाती थी। इस कार्य के लिए उनको सरकार से वेतन व पारितोषिक मिलता था। रणभांडागार विभाग अपना कार्य व्यापारियों के सहयोग से करता था। सैन्य में जब जातियों के लोग थे, जिनमें ब्राह्मण व जैन भी अंतर्भूत थे, यह एक उल्लेखनीय बात है कि राष्ट्रकूटों के प्रसिद्ध सैनानियों में अनेक जैन थे, जैसे बंकेरा, श्रीविजय, भारसिंह इत्यादि शायद वे समझते थे कि आत्यान्तिक अहिंसा तत्व का पालन सन्यासियों के लिए था न कि गृहस्थों के लिए।

Hkfe dk jkt Lo

राष्ट्रकूट साम्राज्य की आमदनी के स्त्रोत सामंतों द्वारा मिलने वाली बलि (Tribute), सरकारी जंगल, जमीन, खान इत्यादि से होने वाली आमदनी व विभिन्न

प्रकार के कर थे। सरकार खेती वाली जमीन पर अपने स्वामित्व का दावा नहीं करती थी। यदि कोई जमीन–मालिक मालगुजारी लगातार कुछ वर्षों तक नहीं चुकाता था, तो उसकी जमीन सरकार द्वारा जप्त कर ली जाती थी।[76]

मुख्य कर मालगुजारी थी जिसको उदंग या भोगकर कहते थे। वह 25 प्रतिशत से 33 प्रतिशत तक था व दो या तीन किश्तों में प्रायः अनाज के रूप में वसूल किया जाता था। ब्रह्मदेय या देवदेय जमीन पर कर की दर कम थी। अकाल के समय कर में छूट दी जाती थी। व्यापार की वस्तुओं पर जो कर लिया जाता था उसको भोगकर कहते थ। उसका कुछ भाग स्थानीय अधिकारियों को वेतन के बदले में मिलता था। चुंगी व उत्पादन कर भी लिये जाते थे। कभी नकद में व कभी अनाज आदि के रूप में। दौरे के अधिकारियों के भोजनादिक का खर्च ग्राम वासियों को देना पड़ता था।

I UnHk'

1. अर्थशास्त्र 6.1
2. अल्तेकर, अनंत सदाशिव : पूर्वोल्लिखित, पृ. 248
3. अर्थशास्त्र 1.7
4. पाण्डेय, विमलचन्द्र : प्राचीन भारत का राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास भाग–1, पृ. 397
5. अर्थशास्त्र 1. 11कृ15
6. वही 1.15
7. वही 1.6
8. वही 18
9. विद्यालंकार, सत्यकतु : मौर्य साम्राज्य का इतिहास, पृ. 169
10. श्रीवास्तव, कृष्णचन्द्र : प्राचीन भारत का इतिहास तथा संस्कृति, पृ. 272
11. विद्यालंकार, सत्यकतु : पूर्वोत्त, पृ. 182दृ188
12. पाण्डेय, विमलचन्द्र, पूर्वोक्त, पृ. 397
13. झा एवं श्रीमाली (सं.) : प्राचीन भारत का इतिहास, पृ 211
14. मैक्रिडल : एश्येण्ट इण्डिया एस डिस्क्राइब्ड बाई मैगस्थनीज एण्ड एरियन, कलकत्ता, 1877, पृ. 88, विद्यालंकार सत्यकोतु मौर्य साम्राज्य का इतिहास, पृ. 427.
15. अर्थशास्त्र 10.4
16. विद्यालंकार, सत्यकतु : मौर्य साम्राज्य का इतिहास, पृ. 431
17. वही, पृ. 290–293
18. वही, पृ. 431–443
19. श्रीवास्तव, कृष्णचन्द्र : पूर्वोक्त, पृ. 276.
20. अर्थशास्त्र 2.34
21. वही, 2.6

22. विद्यालंकार, सत्यकेतु : प्राचीन भारतीय–शासन संस्थाएँ तथा राजनीतिक विचार, पृ.199–202
23. अर्थशास्त्र 3.1
24. श्रीवास्तव, कृष्णचन्द्र : पूर्वोक्त, पृ. 275
25. विद्यालंकार, सत्यकतु : मौर्य साम्राज्य का इतिहास, पृ. 236,
26. अर्थशास्त्र 3.9
27. जूनागढ़ लेख पंक्ति 8, एपिग्राफिया इण्डिका, खण्ड 8, पृ. 36
28. अर्थशास्त्र 4.3
29. श्रीवास्तव, कृष्णचन्द्र : पूर्वोक्त, पृ. 273
30. अल्तेकर, ए. एस. : पूर्वोक्त, पृ. 252
31. शर्मा, रामशरण : प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थाएँ, पृ. 358
32. श्रीवास्तव, कृष्णचन्द्र : पूर्वोक्त, पृ. 274.
33. अर्थशास्त्र 2.1
34. वही, 2.7
35. वही, 2.35
36. वही, 2.14
37. श्रीवास्तव, कृष्णचन्द्र : पूर्वोक्त, पृ. 274.
38. षष्ठ शिलालेख
39. अर्थशास्त्र 1.16
40. षष्ठ लेख (चतुर्दश शिलालेख शहबाजगढी संस्करण)
41. श्रीवास्तव, कृष्णचन्द्र : पूर्वोक्त, पृ. 280
42. दिव्यावदान (संपा कावेल एवं नील) : पृ. 431–32
43. विद्यालंकार, सत्यकतु : मौर्य साम्राज्य का इतिहास, पृ. 510
44. गोयल, श्रीराम : नन्द मौर्य साम्राज्य का इतिहास पृ. 353
45. श्रीवास्तव, कृष्णचन्द्र : पूर्वोक्त, पृः 459

46. गुप्त, परमेश्वरीलाल : गुप्त साम्राज्य, पृ. 385

47. फ्लीट, जे.एफ. : कॉर्पस इस्क्रिप्शनम इण्डिकेरम, खण्ड 3, पृ.1–17, प्रयाग–प्रशस्ति पक्ति 7–8.

48. अल्तेकर, ए.एस.: पूर्वोक्त, पृ. 269,

49. श्रीवास्तव, ओ.पी.: 'अ रेयर सीलिंग फ्राम इलाहाबाद श्रोइंग न्यू लाइट ऑन द ऑफिस ऑफ कुमारामात्य', गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, खण्ड – 35, जनवरी–जून, 1979, भाग 1–2

50. फ्लीट जे.एफ.: पूर्वात, पृ. 58, पंक्ति–6

51. गुप्त, परमेश्वरीलाल : पूर्वोक्त, पृ. 392

52. श्रीवास्तव, कृष्णचन्द्र : पूर्वोक्त, पृ. 461

53. फ्लीट, जे. एफ. : पूर्वोत्त, पृ. 31, पंक्ति 6

54. नालन्दा से प्राप्त मुहरें।

55. एपिग्राफिया इण्डिका, 21 पृ. 81, पंक्ति–2

56. वही, 15, पृ. 137

57. फ्लीट, जे. एफ. : पूर्वोत्त, पृ. 112 व 256

58. बृहस्पति स्मृति 1. 65–70; 73–74, 93–94.

59. याज्ञवल्क्य स्मृति 4.94; नारद स्मृति 1.250

60. मजुमदार एवं पुसालकर : क्लासिकल एज, पृ. 352

61. कामन्दकीय नीतिसार 5.74 84

62. वाटर्स, टी : ऑन युवानदृ च्वांग ट्रेवेल्स इन इणिडया, पृ. 97

63. अग्रवाल, वासुदेवशरणः हर्ष चरित एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ. 37

64. एपिग्राफिया इण्डिका खण्ड, 6, 1–12, ऐहोल लेख पंक्ति – 23

65. वाटर्स, टी : पूर्वोक्त, पृ. 43

66. चटर्जी, गौरीशंकर : हर्षवर्द्धन, पृ. 106

67. त्रिपाठी, आर. एस. : हिस्ट्री ऑफ कन्नौज, पृ. 137

68. श्रीवास्तव, कृष्णचन्द्रः : पूर्वोक्त, पृ. 526

69. अग्रवाल, वासुदेवशरण : पूर्वोत्त, पृ. 86

70. आयंगर, एस. कृष्णास्वामी : इवोल्यूशन ऑफ हिन्दु एडमिनिस्ट्रेटिव इन्स्टीट्यूशन्स इन साउथ इण्डिया, पृ. 56

71. शास्त्री, के. ए. एन : द चोलाज, पृ. 79

72. शास्त्री, के. ए. एन. : स्टडीज इन चोल हिस्ट्री एण्ड एडमिनिस्ट्रेशन, पृ. 72

73. सेथेन्थेयर, आर. : स्टडीज इन द हिस्ट्री ऑफ तोण्डमण्डलम्, पृ. 132

74. शास्त्री, के. ए. एन. : स्टडीज इन चोल हिस्ट्री एण्ड एडमिनिस्ट्रेशन, पूर्वोक्त, पृ. 91

75. वही, पृ. 94

76. वही, पृ. 160 76

77. अल्तेकर, ए. एस. : राष्ट्रकूटाज एण्ड देयर टाइम्स, पृ. 153

lanHk xzUFk lph

1. ऋग्वेद : 5 खंड, वैदिक संशोधन मंडल, पूना, 1933, 51
2. यजुर्वेद संहिता (शुक्ल) : हिन्दी अनुवाढ़ सहित, जयदेव शर्मा विद्यालंकार, अजमेर, 1962
3. अथर्ववेद संहिता : सायणाचार्य भाष्य सहित, संपा. एय. पाण्डुरंबा, 4 खंड, बम्बई, 1895
4. ऐतरेय ब्राह्मण : सायणाभाष्य–भाष्य सहित, आनन्दाश्रम, पूना, 1900
5. तैत्तिरीय ब्राह्मण : संपा. आय. यामथाय्त्री, मैसूर, 1921
6. शतपथ ब्राह्मण : संपा. वी शर्मा एवं सी.डी. शर्मा, अच्युत ग्रन्थमाला, वायाणसी, 1972
7. वृहदायरण्यकोपनिषद् : हिन्दी अनुवाद सहित, गीता प्रेस, गोरखपुर, 1942
8. तैत्तिरियोपनिषद् : शांकरभाष्य, गीता प्रेस, गोरखपुर, 1969
9. छन्दोग्य उपनिषद् : गीता प्रेस, गोरखपुर (हिन्दी अनुवाद सहित)
10. कठोपनिषद् : व्याख्याकार– सुरेन्द्र देव शास्त्री, वाराणसी, खं. 2028
11. श्वेताश्वरोपनिषद् : शांकरभाष्य सहित, गीता प्रेस, गोरखपुर, सं. 2027
12. उपनिषत्संग्रह : जगदीश शास्त्री, वाराणसी, सं. 2027

èkeZlw=

1. गौतम धर्मसूत्र : आनळढाश्रम, संस्कृत सीरीज, पूना, 1931
2. आपस्तम्भ धर्मसूत्र : जी. वूलर संपादित, बम्बई संस्कृत सीरीज, बम्बई, 1932
3. बौधायन धर्मसूत्र : गोविन्द स्वामी, मैसूर, 1907
4. आपस्तम्भ श्रौतसूत्र : संपा. रिचर्ड गार्बे, 3 खंड, कलकत्ता, 1902
5. बौधायन श्रौतसूत्र : डब्ल्यू कालेंड, कलकत्ता, 1904
6. विष्णु धर्मसूत्र : सं. जे.जोली, कलकत्ता, 1881

Lefr xzFk

1. मनुस्मृति : मन्वर्थमुवतावली टीका सहित, कुल्लूकभट्ट, सं. गोपाल शास्त्री नेने, चौखम्भा, वाराणसी, 1970
2. मनुस्मृति : मेघातिथि भाष्य सहित, डॉ. गंगानाथ झा कृत, कलकत्ता, 1932
3. मनुस्मृति : हिन्दी अनुवाद सहित, श्री हरगोविन्द शास्त्रो कृत, चौखम्भा, वाराणसी, 1965
4. याज्ञवल्क्य स्मृति : विश्वरूपकृत व्याख्या के आधार पर, सं. गणपति शास्त्री, त्रिवेन्द्रम, 1922
5. याज्ञवल्क्य स्मृति : (मिताक्षया व्याख्या) स्रो बाल भट्ट कृत, बालभट्टी टीका, टीका, खं. जगन्नाथ रघुनाथ घायपुरे, बम्बई, 1914
6. स्मृतिनांसमुच्चय : हरिनायायण आप्टे, आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना शालिवाहनशकाब्द, 1827
7. नारद स्मृति : जोली जे. द्वारा संपादित, कलकत्ता, 1885
8. कात्यायन स्मृति : संपा. नारायणचन्द्र बंधोपाध्याय, कलकत्ता, 1931
9. पाराशर स्मृति : वासुढेव, चौ.स.सी. वाराणसी, 1968
10. स्मृति उत्नाकर : वेकटेश्वर प्रेस, बम्बई, 1909
11. स्मृति चन्द्रिका :देवणभट्ट, मैसूर्य, 1918

jkek;.k egkHkkjr

1. श्रीमद्बाल्मीकि रामायण : संपा. भगवद्दत्त, लाहौर, 1931
2. महाभारत : संपा. पी.सी. राय, 1884–96

ijk.k

1. मार्कण्डेय पुराण : हिन्ढी भावार्थ सहित, श्रीशमञ्चमा आचार्य, बरेली, 1968
2. वायुपुराण : हिन्दी भावार्थ सहित, श्रीराम शर्मा, आचार्य, बरेली, 1967
3. भविष्य पुराण : हिन्दी भावार्थ सहित, श्रीराम शर्मा, आचार्य, बरेली, 1967
4. विष्णुपुराण : हिन्दी भावार्थ सहित, श्रीराम शर्मा, आचार्य, बरेली, 1967
5. मत्स्य पुराण : हिक्ढी भावार्थ सहित, श्रीराम अर्मा, आचार्य, बरेली, 1970

6. अग्नि पुराण : हिन्दी भावार्थ सहित, श्रीराम शर्मा, आचार्य, बरेली, 1968
7. लिंग पुराण : हिन्दी भावार्थ सहित, श्रीराम थर्मा, आचार्य, बरेली, 1968
8. कल्कि पुराण : हिन्दी भावार्थ सहित, श्रीराम शर्मा, आचार्य, बरेली, 1969
9. पद्म पुराण : हिन्दी भावार्थ सहित, श्रीराम शर्मा, आचार्य, बरेली, 1969
10. विष्णु धर्मोत्तर पुराण : हिन्दी भावार्थ सहित, वेकटेश्वर प्रेस, बम्बई

vFk'kkL=

1. कौटिलीय अर्थशास्त्र : हिन्दी अनुवाद सहित, पाण्डेय रामतेज (चाणक्य सूत्र सहित)—शास्त्री, पं. पु. का्शी, 1964

uhfr xzUFk

1. शुक्रनीति : व्याख्याकार, ब्रह्मशंकर मिश्र, चौ. वायाणसी, 1968
2. शुक्रनीति : विनय कुमार सरकार कृत, अंग्रेजी अनुवाद, इलाहाबाद़, 1914
3. कामन्दकीय नीतिसार हिन्दी अनुवाद सहित : त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरीज, त्रिवेन्द्रम, 1912
4. नीतिवाक्यामृतम् : व्याख्याकार, रामचन्द्र मालवीय, चौ. वाराणसी, 1972
5. नीतिप्रकाशिका : वैषम्पायन, सं. गुस्टाव आपर्ट, 1970

fucèk xzUFk

1. वीरमित्रोदयः राजनीति प्रकाशः, मित्रमिश्र, संपा. विश्नुप्रसाद, बनारस, चतुर्वर्ग चिंतामणि—हेमाद्री, सं. कामाख्यानाथ, कलकत्ता, 1895
2. राजनीति रत्नाकर : चण्डेश्वर, सं. वाचस्पति वैरोला, वाराणसी, 1970
3. व्यवहाय्म्यूख—नीलकण्ठ भट्ट, सं.पी.वी. काणे, बम्बई, 1926

vU; xzUFk

1. रघुवंशम : कालिदास, व्याख्याकार, हरगोविन्द मिश्र, वाराणसी, 1961
2. हर्षचरित : बाणभट्ट, व्याख्याकार, जगन्नाथ पाठक, वाराणसी, 1971
3. उत्तयामचरितम् : भवभूति, प्रियंबदा टीका, मेरठ, 1973
4. राजतरंगिणी : कल्हण, सं. पण्डित दुर्गाप्रसाढ, बम्बई, 1892

5. श्रीमद्भगवतगीता : गीता प्रेस, गोरखपुर, सं. 2022
6. तंत्रवार्तिक : कुमारिल भट्ट, चौखम्भा सं.सी., बनारस, सं. 1960
7. यास्ककृत निरूक्तम् : दुगाचार्यकृत व्याख्या सहित, बम्बई, सं. 1986
8. दिव्यावदान : कावेल तथा नील द्वारा संपादित, केमिब्रज, 1886
9. मनुटीकासंग्रह : जोली. जे. ए.सी. कलकत्ता, 1889

ikfy&xzFk

1. चुल्लूकग्ग : पालि पब्लिकेशन बोर्ड, बिहार, 1956
2. जातक : वी.फासवोल सम्पादित, 1877–1879
3. दीघ निकाय : पालि पब्लिकेशन बोर्ड, बिहार, 1958
4. संयुक्त निकाय : पालि पब्लिकेशन बोर्ड, बिहार, 1959

dks'k

1. अमरकोश : भानुजी दीक्षित, चौ.स.सि. बनाय, 2026
2. मानक अंग्रेजी हिन्दी–कोश : सत्यप्रकाश, बलभद्रप्रसाद, प्रयाग, 1971
3. पौराणिक कोश : राणाप्रसाद शर्मा, वायाणसी, सं. 2028
4. महाभारत कोश : रामकुमार राय, चौ.सं.सी. वाराणसी, 1966
5. मानक हिन्दी–कोश : हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, 1965
6. हिन्दी–विश्वकोष : नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी
7. संस्कृत–हिन्दी–कोष : वामन शिवराम आप्टे, दिल्ली, 1969
8. हलायुधकोश : सम्पादक–जयशंकर जोशी, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उ.प्र.
9. Encyclopaedia Britanica (11 Ed) London
10. Encyclopaedia of religion and ethics- Ed- by Jamestartiage, Newyork
11. Encyclopaedia of Social science-Ed. by Edvin R.A. Seligman Newyork, 1959
12. Sanskrita English Dictionary - Sir, M. Monier William.

fgUnh xzUFk

1. प्राचीन भारतीय शासन पद्धति : अ.स. अल्तेकर, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2001
2. मनु की समाज व्यवस्था : सत्यमित्र दुबे, इलाहाबाद, 1964
3. धर्मशास्त्र का इतिहास (1–3 खण्ड) : डॉ.पी.वी. काणे, अनुवादक अर्जुन चौबे काश्यप, प्रयाग, 1965
4. प्राचीन भारत का इतिहास : विद्याधर महाजन, दिल्ली, 1967
5. प्राचीन भारत का इतिहास तथा संस्कृति : के.सी. श्रीवास्तव, इलाहाबाद 2001
6. प्राचीन भारत की शासन संस्थाएँ और राजनीतिक विचार : सत्यकेतु विद्यालंकार, श्री सरस्वती सदन, दिल्ली, 1996
7. प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचार एवं संस्थाएँ : हरीशचन्द्र शर्मा, जयपुर, 1970
8. प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थाएं : परमात्माशरण, मेरठ, 1977
9. कौटिल्य की राजव्यवस्था : श्यामलाल पाण्डेय, लखनऊ 2013
10. भारतीय इतिहास का सर्वेक्षण : के.एम. पणिक्कर, अनुवादक हनुमान प्रसाद वाजपेयी, बम्बई, 1957
11. हिन्दू राज्यतंत्र : के.पी. जायसवाल, अनुवादक रामचन्द्र वर्मा, काशीनागरी प्रचारिणी सभा, खं. 2022
12. सत्यार्थ प्रकाश : स्वामी दयानंद सरस्वती, उदयपुर, सं. 1972
13. प्राच्यधर्म और पाश्चात्य विचार : डॉ. राधाकृष्णन, राज, दिल्ली, 1967
14. प्राचीन भारत का राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास : डॉ. विमलचन्द्र पाण्डेय, इलाहाबाद, 1948
15. कामन्दकीय नीतिसार का आलोचनात्मक अध्ययन : (शोध–प्रबंध) सहोदर पाण्डेय, बी.एच.यू, 1966
16. राजनीति शास्त्र (राज्य और राज्य शासन) : सत्यकेतु विद्यालंकार, 1961
17. प्राचीन भारत के जनतंत्र : डॉ. देवीदत्त शुक्ल, लखनऊ 1966

18. भारतीय संस्कृति और साधना : गोपीनाथ कविराज, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना

19. प्राचीन भारत में राज्य और न्यायपालिका : डॉ. हरिहरनाथ त्रिपाठी

20. हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता : बेनीप्रसाद, इलाहाबाद, 1950

21. प्राचीन भारत की दण्डनीति : योगेन्द्रनाथ वाग्ची, कलकत्ता, 1961

vxzsth xzUFk

1. Aspect's of the Social and Political System of Manusmriti: Adyangar, Rangawami, K.V. Lucknow, 1949.

2. Some Aspects of Ancient Indian Polity : Adyangar, Rangaswami, K.V., Madras, 1936.

3. State and Government in Ancient India . Altekar, A.S., Banaras, 1949

4. The Nature and Grounds of Political Obligation in the Hindu State : Anjaria, J.J. London, 1935.

5. Development of Hindu Polity and Political Theory : Bandyopadhyay, N.C. Calcutta, 1927.

6. Kautilya : Bandyopadhyay, N.C. Calcutta, 1927.

7. Crime and Punishment in Ancient India : Das Gupta, Ramprasad, Calcutta, 1930.

8. The Ramayana Polity and Dharma: P.C., Madras, 1941.

9. The Mauryan Polity. Dikshitear, V.R.R., Madras, 1953.

10. Kingsship and Community in Early India : Dreckmeier, Charise, Oxford, 1962.

11. A History of Indian Political ideas : Ghoshal, U.N., Bombay, 1959

12. Manu and Yajyavalkya : Jayaswal, K.P., Calcutta, 1930.

13. Hindu Polity : Jayaswal, K.P., Calcutta, 1934.

14. History of Dharma Shastra, 5 Vols. : Kane, P.V., Bhandarker Oriental Research Institute, Poona.

15. Hindu Kinship . Kapadia, K.N. Bombay, 1947.
16. Inter State Relations in Ancient India : Law, Narendra Nath, London, 1920
17. The Origin and Evolution of Kingship in India . Panikkar, K.M., Baroda, 1938.
18. Local Government in Ancient India : Mookerji, R.K. Motilal Banarasidas, 1948.

'kks/k i=] if=dk,¡ ,oa lekpkj i=

19. Annals of Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona
20. Indian Caiture, Indian Research Institute, Calcutta.
21. Journal of Bombay, Branch of Royal Asiatic Society.
22. Journal of Bengal Branch of Royal Asiatic Society.
23. Bhavan's Journal, Bombay.
24. Divine Radience-Southall, Midd-X, U.K.
25. The Hindustan Times-New Delhi.
26. ऋतम्भरा : अशोकनगर, उदयपुर, राजस्थान
27. कल्याण : गीता प्रेस, गोरखपुर
28. मध्यभारती : सागर
29. शोध समवेत : उज्जैन

Hindi dept. hindidept2016@gmail.com

मौलिकता/अनापत्ति प्रमाण-पत्र

यह प्रमाणित किया जाता है कि ~~मेरे~~/हमारे द्वारा लिखित पुस्तक प्राचीन भारतीय राजनय एवं प्रशासन (पुस्तक का नाम) ~~मेरी~~/हमारी मौलिक एवं अप्रकाशित कृति है। ~~मैं~~/हम इसके मुद्रण/प्रकाशन की सहर्ष अनुमति ~~देता हूँ~~/देते हैं।

यदि डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर/विश्वविद्यालय अनुदान आयोग/शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार इस पुस्तक को मुद्रित/प्रकाशित करवाता है तो ~~मुझें~~/हमें कोई आपत्ति नहीं होगी।

स्थान : सागर (म.प्र.) लेखक के हस्ताक्षर एवं नाम (डॉ. सोहन देव)

दिनांक : 15/7/2023 .....

सह-लेखक के हस्ताक्षर एवं नाम : .....

(डॉ. आलोक प्रोजिय)

.....